UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182758

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4-4-69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H801 G97S Accession No. P. G. H3298

Author गुप्त, गणपतिचन्द्र.

Title साहित्य की आत्मा. 1963.

This book should be returned on or before the date last marked below.

'साहित्य-विज्ञान', ग्रन्थ-माला, प्रथम खण्ड

साहित्य की आत्मा

—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान एवं विज्ञान के आधार पर साहित्य की आत्मा का वैज्ञानिक विवेचन—

डा० गणपति चन्द्र गुप्त

प्राध्यापक—हिन्दी-विभाग,

पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ ।

प्रकाशक : भारतेन्दु-भवन, चण्डीगढ़–३ ।
वितरक : विश्वभारती-प्रकाशन, ११७८।२२ बी, चण्डीगढ़ (पंजाब) ।
मुद्रक : आगरा फाइन-आर्ट प्रेस, राजा की मण्डी, आगरा ।
प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९६३–जनवरी'६४ ।
मूल्य : पाँच रुपये ।

दो शब्द

'साहित्य-विज्ञान' के तीन खंडों में क्रमशः साहित्य की आत्मा (शक्ति), साहित्य के तत्त्व (द्रव्य), और साहित्य के रूप (शैली) की विवेचना भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर की गई है। प्रस्तुत पुस्तक उसी का एक खंड है। जो लोग पूरी पुस्तक एक साथ नही पढ़ना चाहते, उन्हीं के लिए ये खंड अलग-अलग प्रकाशित किये जा रहे हैं। अन्त में 'साहित्य-विज्ञान' का सारांश तथा आधारभूत विषयों—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य काव्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र की संक्षिप्त रूप-रेखा भी पाठकों के उपयोग की दृष्टि से जोड़ दी गई है।

'साहित्य-विज्ञान' में साहित्य की आत्मा या शक्ति के रूप में एक नये सिद्धान्त—आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त—की स्थापना की गई है। हमारा विश्वास है कि इस सिद्धान्त के आधार पर साहित्य के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अधिक स्पष्ट, नूतन एवं आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के अनुकूल रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। आशा है, पाठक-गण निष्पक्ष रूप से इस सिद्धान्त की परीक्षा करते हुए इसके गुण-दोषों से मुझे अवगत करायेंगे ताकि मैं भविष्य में अपेक्षित स्पष्टीकरण या संशोधन प्रस्तुत कर सकूँ।

हिन्दी विभाग,
पंजाब-विश्वविद्यालय,
चण्डीगढ़।

—गणपति चन्द्र गुप्त

विषय-सूची

प्रथम खण्ड :

साहित्य की आत्मा या शक्ति

१. विषय-प्रवेश ३—८

२. साहित्य-विज्ञान : स्वरूप और पद्धति ९—१८

२.१. साहित्य-विज्ञान : परिभाषा
२.२. साहित्य-विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र
२.३. साहित्य-विज्ञान की अध्ययन-पद्धति
२.४. साहित्य-विज्ञान : संभावित आक्षेप
२.५. साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या के पूर्वप्रयास
२.६. प्रस्तुत प्रयास की नवीनता ।

३. साहित्य : अर्थ-मीमांसा १९—२२

३.१. 'साहित्य' : व्युत्पत्ति एवं अर्थ
३.२ काव्य और साहित्य में अर्थ-भेद
३.३. साहित्य और लिट्रेचर
३.४. साहित्य के अभिधात्मक एवं लाक्षणिक अर्थ

४. साहित्य की परिभाषा २३—३१

४.१. परिभाषा : सामान्य विवेचन
४.२. परम्परागत परिभाषाओं की परीक्षा
४.३. उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण
४.४. परिभाषाओं की तालिका की व्याख्या

५. साहित्य की आत्मा या शक्ति : भारतीय दृष्टिकोण ३२—४३

५.१. साहित्य की आत्मा : सामान्य विवेचन
५.२. 'शक्ति' : वैज्ञानिक विवेचन
५.३. 'साहित्य' और शक्ति-सिद्धान्त
५.४. रस : काव्यात्मा के रूप में
५.५. अलंकार-सिद्धान्त
५.६. रीति-संप्रदाय
५.७. ध्वनि

५.८. वक्रोक्ति
५.९. औचित्य
५.१०. भारतीय मतों का समन्वय

६. साहित्य की आत्मा या शक्ति : पाश्चात्य दृष्टिकोण ४४—५६

६.१. अनुकृति
६.२. 'अनुकृति' : अर्थ एवं स्वरूप
६.३. अनुकृति : काव्यात्मा के रूप में
६.४. औचित्य
६.५. अलंकृति
६.६. उदात्त
६.७. उदात्त की समीक्षा
६.८. कल्पना एवं बिम्ब-विधान
६.९. सौन्दर्य
६.१०. 'सौन्दर्य' का अर्थ

७. भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों का समन्वय ५७—६१

७.१. रससिद्धान्त और आकर्षण
७.२. अनुकृति सिद्धान्त और आकर्षण
७.३. उदात्त सिद्धान्त और आकर्षण
७.४. बिम्ब सिद्धान्त और आकर्षण
७.५. निष्कर्ष

८. आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त और उसकी सामान्य प्रवृत्तियाँ ६२—७९

८.१. शक्ति का सक्रिय रूप : आकर्षण-विकर्षण
८.२. शक्ति की त्रिगुणात्मकता
८.३. शक्ति के विभिन्न तत्वों में पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण
८.४. शक्ति की दो अवस्थाएँ
८.५. आकर्षण शक्ति की चार प्रक्रियाएँ
८.६. आकर्षण शक्ति के विभिन्न स्तर
८.७. आकर्षण शक्ति की गतियाँ
८.८. शक्ति का लक्ष्य पूर्णता, शान्ति, साम्य एवं संतुलन

९. साहित्य में आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा ८०—१०२

९.१. साहित्य में आकर्षण-शक्ति का अस्तित्व

९.२. आकर्षण शक्ति की त्रिगुणात्मकता
९.३. विरोधी तत्त्वों के सम्पर्क से शक्ति की उद्दीप्ति
९.४. शक्ति की चार प्रक्रियाएँ
९.५. आकर्षण शक्ति के विभिन्न स्तर
९.६. आकर्षण शक्ति की गति
९.७. आकर्षण शक्ति का लक्ष्य : आनन्द
९.८. आनन्दानुभूति और कुछ अन्य प्रश्न
९.९. उपसंहार

साहित्य-विज्ञान

प्रथम खंड

साहित्य की आत्मा या शक्ति

साहित्य की आत्मा या शक्ति—

- **सामान्य विवेचन**

    १. विषय-प्रवेश
    २. साहित्य-विज्ञान : स्वरूप और पद्धति
    ३. साहित्य : अर्थ-मीमांसा
    ४ साहित्य की परिभाषा

- **साहित्य की आत्मा या शक्ति**

    ५. साहित्य की आत्मा या शक्ति : भारतीय दृष्टिकोण
    ६. साहित्य की आत्मा या शक्ति : पाश्चात्य दृष्टिकोण
    ७. भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तों का समन्वय
    ८. आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त और उसकी प्रवृत्तियाँ
    ९. साहित्य मे आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा
    १०. उपसंहार

१
विषय-प्रवेश

विश्व—ज्ञान-विज्ञान के इतिहास में साहित्य-सिद्धान्तों के विवेचन की परम्परा बहुत पुरानी है। यद्यपि इसका प्रारंभिक इतिहास धुधला एवं अस्पष्ट है, फिर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यह परपरा कम से कम अढाई हजार वर्ष पुरानी अवश्य है। इन अढाई हजार वर्षो मे विश्व के अनगिनत महान् चिन्तकों, समीक्षकों एवं आचार्यों ने विभिन्न भाषाओं में साहित्य के सम्बन्ध मे अपने-अपने अनुभव, विचार एवं सिद्धान्त देकर साहित्य-शास्त्र को अत्यन्त समृद्ध एवं उन्नत बनाया है। साहित्य-शास्त्र की इस समृद्धि एवं उन्नति की पूरी थाह लेना या उसका सम्यक् मूल्यांकन करना किसी एक व्यक्ति के वश की बात नही है क्योंकि जहाँ उसका ज्ञान-भंडार इतना विशाल है कि वह किसी एक व्यक्ति के मस्तिष्क में समा नहीं पाता, वहाँ उसका स्थान-भेद, काल-भेद एवं भाषा-भेद भी उसे एक ही व्यक्ति के अध्ययन की परिधि में बाँधने में बाधक सिद्ध होता है। अतः विश्व के इस समृद्ध साहित्य-शास्त्र की समस्त निधि को एक दृष्टि से देख पाने का सौभाग्य तो शायद अब तक किसी को प्राप्त नही हुआ, किन्तु जिन्होंने इसके एक अश की भी झलक पाई है, वे भी सभवतः इसकी विविधता एव विशालता की प्रशसा किये बिना न रहेंगे। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि इस विशाल कोष के होते हुए भी हमें साहित्य-सिद्धान्तों के पुनर्विवेचन की आवश्यकता क्यों अनुभव हुई? या जब हम परम्परागत दाय को ही भलीभाँति नही सभाल पाते तो नये सिद्धान्तों की स्थापना या उनके नये विवेचन की क्या आवश्यकता है? इन प्रश्नों का उत्तर सामयिक परिस्थितियों के आधार पर दिया जा सकता है।

यदि हम आज की साहित्यिक परिस्थितियों का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि सामयिक साहित्य विशुद्ध साहित्यिक चेतना से कम अनुप्राणित है, वह विज्ञान की बौद्धिकता, प्रयोग-शीलता, एवं आविष्कार प्रवृत्तियों से तथा राजनीति की दल-बन्दी एवं सत्ता-प्राप्ति की प्रवृत्तियों से अधिक परिचालित है। प्राचीन युग में जो स्थान धर्म और दर्शन का था, वही आज के युग में विज्ञान और राजनीति को प्राप्त हो गया है। प्राचीन युग में जो बात देवताओं, ऋषियों एवं धर्माचार्यों के

मुँह से कहलवाने पर मान्य समझी जाती थी, वही अब वैज्ञानिकों एवं राजनीतिज्ञों के द्वारा कही जाने पर स्वीकार्य होती है। सभवतः यही कारण था कि प्राचीन युग में भरत मुनि जैसे आचार्य ने भी अपने ज्ञान को ब्रह्मादि देवताओं के मुँह से प्रस्तुत करवाया है, जब कि आज इस प्रकार के प्रयास का कोई महत्त्व नही है। वस्तुतः नव-परिवर्तित परिस्थितियों मे हमारी समस्त बौद्धिक आस्था का केन्द्र विज्ञान बन गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप प्राचीन शास्त्रों एवं उनमें निहित ज्ञान की प्रामाणिकता पर प्रश्नवाचक चिन्ह लग गया है। ऐसी स्थिति में हमारे सामने दो रास्ते हैं—या तो हम परंपरागत ज्ञान को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परख कर उसे ऐसा व्यवस्थित एवं शुद्ध रूप प्रदान करें, जो कि आज के पाठक को ग्राह्य हो सके या फिर देखने, समझने और परखने का कष्ट किये बिना ही उसे सर्वथा अशुद्ध, अवैज्ञानिक एवं त्याज्य घोषित कर दें। इनमें से पहला मार्ग कठिन है, अतः उस पर थोड़े लोग ही चल पा रहे है जब कि दूसरे मार्ग की ऋजुता के कारण विचारको का बहु-सख्यक वर्ग इसी की ओर आकृष्ट हो रहा है। प्राचीन सिद्धान्तों को परखने के लिये जितना श्रम चाहिए, उसकी अपेक्षा उन्हे बिना परखे ही अवैज्ञानिक घोषित कर देने में बहुत थोड़े श्रम की आवश्यकता पड़ती है—इसी लिए हमारे अनेक प्रतिभाशाली आलोचकों द्वारा परपरागत साहित्य-शास्त्र की अवैज्ञानिकता एव निस्सारता की घोपणा आये दिन होती रहती है। हमारे विचार से सहस्रो वर्षो की चिन्तन परपरा से उपलब्ध इस विशाल ज्ञान-राशि को एकाएक इस प्रकार ठुकरा देना कोई बहुत समझदारी की बात नही है। वस्तुतः यह स्थिति चिन्तनीय है।

विज्ञान के प्रति हमारी अति आस्था ने जहाँ साहित्य-सिद्धान्तो के क्षेत्र में प्राचीन ज्ञान के प्रति अनास्था का वातावरण उत्पन्न किया है, वहाँ साहित्य-सर्जना एवं साहित्य-मूल्याकन के क्षेत्र मे उसने अस्थिरता एवं अराजकता की स्थिति भी पैदा कर दी है। हमारे साहित्यकारो ने देखा कि जिस प्रकार वैज्ञानिक नित्य नये-नये प्रयोगो के द्वारा नये-नये साधनो का आविष्कार करके उन्नति के शिखर पर चढ़ते जा रहे है, वैसे ही क्यो न साहित्य के क्षेत्र मे भी नये-नये प्रयोग किये जायें ? एटम के आविष्कार ने यदि विश्व-युद्ध एव विश्व-राजनीति के इतिहास को ही पलट दिया तो क्यो न साहित्य के क्षेत्र मे भी ऐसे आविष्कार किये जायँ जो सारे समाज को न सही—कम से कम साहित्य के इतिहास को एक नया मोड़ अवश्य दे दे। अवश्य ही ये प्रेरणाएँ और आकांक्षाएँ स्वाभाविक है किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि साहित्यकार का लक्ष्य, उसका आधार और उसके साधन वैज्ञानिको के लक्ष्य, आधार एवं साधनो से भिन्न होते है। वैज्ञानिक का लक्ष्य प्रकृति के विभिन्न तत्त्वो एव क्रिया-कलापो का विश्लेषण एव निरीक्षण करके अपनी बुद्धि के द्वारा प्रकृति के अन्तर्निहित तथ्य को या उसकी छिपी हुई शक्ति को खोज लेना है। वह उस अन्तर्निहित शक्ति को उद्दीप्त करने, जगाने एवं उसका उपयोग करने की

विभिन्न विधियों का अनुसंधान करता है ; यही अनुसंधान वैज्ञानिक आविष्कार कहलाता है। इसके विपरीत साहित्यकार किसी अन्य पदार्थ या बाह्य प्रकृति की शक्ति का अनुसंधान नहीं करता—वह अपनी ही शक्ति को उद्दीप्त करता है। दूसरे, वैज्ञानिक का लक्ष्य जहाँ तथ्यों और विधियों की खोज करना है, वहाँ साहित्यकार का लक्ष्य नव-सर्जन का कार्य सपादित करना है। जहाँ वैज्ञानिक बौद्धिक प्रक्रिया के द्वारा सत्य का अनुसंधान करता है, वहाँ साहित्यकार भावाभिव्यक्ति के रूप में सौन्दर्य का सर्जन करता है। साहित्य के क्षेत्र में भी अनुसंधान होता है, किन्तु यह कार्य स्वयं साहित्यकार का नही अपितु साहित्य-शास्त्री, साहित्याचार्य या साहित्य के विवेचक का है। अतः साहित्य-विवेचक एव वैज्ञानिक में तो दृष्टिकोण, लक्ष्य एवं कार्य-विधि की समानता हो सकती है ; किन्तु स्वयं साहित्यकार का क्षेत्र इनसे सर्वथा भिन्न है। ऐसी स्थिति में जब साहित्यकार वैज्ञानिक की प्रवृत्तियों का अनुकरण करने लगता है तो उसकी रचनाएँ साहित्यिक कम और वैज्ञानिक अधिक हो जाती है। किसी रचना का वैज्ञानिक हो जाना बुरा नही है—किन्तु बुरा तब है जब कि उस वैज्ञानिक रचना को भी साहित्यिक सिद्ध करने का अनुचित प्रयास किया जाता है। साहित्य के क्षेत्र मे इस प्रकार के प्रयास प्रायः दृष्टिगोचर होते है।

वैज्ञानिक प्रवृत्तियो के अन्धानुकरण के फलस्वरूप ही साहित्य के क्षेत्र में अनेक ऐसे विशेषणों एव मूल्य-सूचक शब्दों का प्रयोग होने लगा है जो कि वस्तुतः विज्ञान के क्षेत्र से सम्बद्ध है—जिनका साहित्य से विशेष सम्बन्ध नही है। उदाहरण के लिए 'नया' विशेषण को लीजिए। अनुसंधान के लिए 'नया' होना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—अतः जब कोई वैज्ञानिक नये ज्ञान का अनुसधान करता है तो इसे उसकी 'सफलता' का प्रमाण माना जाता है। अतः विज्ञान में इस 'नये' विशेषण का बहुत महत्त्व है—वहाँ 'नया होना', 'सफल होने' का पर्यायवाची है ; पर यह बात साहित्य के क्षेत्र में लागू नही होती। साहित्य में तथ्य, विचार, अनुभूति, शैली या रूप की नवीनता अपने-आप मे कोई महत्त्व नही रखती, जब तक वह सरस, सुन्दर एव प्रभावोत्पादक न हो। सत्रहवी-शती के लोगो के लिए तुलसी के 'रामचरितमानस' की अपेक्षा केशव की 'रामचद्रिका' अधिक नयी थी ; बिहारी की 'सतसई' की अपेक्षा परवर्ती कवियो की सतसइयाँ अधिक नवीन थी, किन्तु अपने नयेपन के आधार पर ही वे पूर्ववर्ती रचनाओ से अधिक सम्मान नही पा सकी। कुछ लोग साहित्य के प्रसंग में 'नवीनता', 'आधुनिकता' एव 'मौलिकता' के अर्थ-भेद को हृदयगम न कर पाने के कारण भी 'नवीनता' की अनुचित प्रशसा करते हैं। ध्यान रहे, नवीनता और आधुनिकता परिवर्तनशील विशेषण है, जब कि मौलिकता स्थिर विशेषण है। जो रचना आज नवीन कही जाती है या आधुनिक बताई जाती है, वही आगे चलकर प्राचीन कही जायगी जब कि मौलिक रचना सदा मौलिक विशेषण से संयुक्त रहेगी। अस्तु, साहित्य के क्षेत्र में केवल नवीनता के आधार पर ही किसी रचना का मूल्यांकन

करना उसका अस्थायी मूल्यांकन है—क्योंकि कुछ ही समय बाद जब वह रचना 'नवीनता' के विशेषण से मुक्त हो जायगी तो उसका यह मूल्यांकन भी खटाई में पड़ जायगा। फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि अनेक साहित्यकार कई बार विचार, अनुभूति या शैली की नवीनता के बल पर ही अपनी साहित्यिकता-शून्य रचनाओं को उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाओं में स्थान दिलवाने के लिए अपनी शक्ति का अपव्यय या दुरुपयोग करते देखे जाते है।

संभवत: कुछ विद्वान् यहाँ तर्क दें कि साहित्य में प्राचीन काव्य-रूपो, काव्य-विषयों एवं काव्य-शैलियों की अपेक्षा नये काव्य-रूप, नये विषय एव नई शैलियाँ अधिक आकर्षक होती है, अत: उनकी नवीनता को क्यों नही महत्त्व दिया जाय ? इसके उत्तर में हम नम्रतापूर्वक कहेंगे कि वे जिसे नवीन कहते है—वह कितनी मात्रा में नवीन है ; इस पर वे विचार करें। विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार कोई भी वस्तु परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न नही हो सकती ; जिसे हम 'नवीन' कहते हैं, वह भी वस्तुत: वातावरण के प्रभाव से परपरा का ही एक नया मोड़ होता है। इस नये मोड़ में स्थायी तत्त्व बहुत कुछ परंपरागत ही होते है, केवल उनके रूप मे किंचित् परिवर्तन होता है। यदि हम मनुष्य के विकास का विश्लेषण करे तो पायेंगे कि लाखों वर्षो में भी उसके शारीरिक अवयवों, मानसिक सस्थानों, उसकी सहजानुभूतियों एवं सामान्य प्रवृत्तियो में बहुत कम परिवर्तन हो पाया है—जो परिवर्तन या विकास हो पाया है वह उसके कार्य-व्यवहार की ऊपरी पद्धतियो एव उसके साधनों के बाह्य वैभव में हो पाया है ; अन्ततः मनुष्य वही है। यह बात साहित्य पर भी लागू होती है—साहित्य की साहित्यिकता के वास्तविक आधार या उसके प्राणभूत तत्त्व शाश्वत है, चिरन्तन है ; केवल उसकी अभिव्यजना-शैलियो एव उसके बाह्य रूपों में न्यूनाधिक परिवर्तन होता रहता है। प्रश्न है—उसके चिरन्तन तत्त्वों एव परिवर्तनशील रूपों में से किसका अधिक महत्त्व है ? हमारे विचार से जो साहित्य का साहित्यिक दृष्टि से अध्ययन एवं आस्वादन करता है वह उसके चिरन्तन तत्त्वों को परिवर्तनशील रूपों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देगा—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या करने वाला व्यक्ति भले ही उसके परिवर्तनशील तत्त्वों पर अधिक विचार करे। एक सुन्दर युवती भले ही वैदिक युग की पोशाक मे हो या आधुनिक युग की पोशाक मे—वह सभी पोशाकों में सुन्दर प्रतीत होगी ; यह दूसरी बात है कि किसी एक पोशाक में वह अधिक जँचे और दूसरी में कम। इसके विपरीत एक कुरूप व्यक्ति भले ही नवीनतम पोशाक या आधुनिकतम साज-सज्जा से मंडित हो जाय, वह अन्ततः कुरूप ही कहा जायगा। अस्तु, नयी साज-सज्जा या नयी शैली साहित्य के सौन्दर्य में आंशिक वृद्धि तो कर सकती है किन्तु वह असुन्दर को सुन्दर नहीं बना सकती। वस्तुतः सौन्दर्य का वास्तविक आधार किसी तत्त्व की 'प्राचीनता' या 'नवीनता' में निहित नहीं है अपितु ऐसे तत्त्वों में निहित हैं जो सौन्दर्य के शाश्वत

प्रतीक हैं। किन्तु हमारे नवीनतावादी आलोचक एवं साहित्यकार ऐसी धारणाएँ प्रचारित कर रहे हैं ; जिनके अनुसार नये साहित्य की सफलता सभी तत्त्वों की नवीनता में निहित है। उनके अनुसार न केवल साहित्य के प्राचीन गुण आज दोषों में, और दोष गुणों में बदल गये है, अपितु साहित्य के आस्वादन-कर्त्ता मनुष्य के भाव बोध एवं उसकी मानसिक क्षमताओं में भी असाधारण परिवर्तन आ गया है। फल-स्वरूप अब साहित्य के मूल्यांकन का दृष्टिकोण एवं उसके आधार भी बदल गये हैं। पहले जहाँ बौद्धिकता, अस्पष्टता एव शुष्कता को काव्य का दोष माना जाता था वहाँ अब उन्हें सर्वोपरि गुण सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है। पहले यदि किसी रचना से सुपठित सामाजिक को आनन्द न मिलता था तो उसके रचियता की शक्ति पर संदेह किया जाता था, जब कि अब स्थिति इसके विपरीत है। इतना ही नही, अब साहित्यकारों को अपने युग के आलोचकों की क्षमता पर भी विश्वास नही है—उन्हें हर समय यह आशंका रहती है कि आलोचक उनकी रचनाओं का सम्यक् मूल्यांकन नही कर पायेंगे, अतः वे अपनी प्रत्येक कृति के साथ उसके मूल्याकन का मानदंड भी प्रस्तुत कर देते है। यह स्थिति वैसी ही है, जैसी कि कपडे की प्रत्येक मिल अपने प्रत्येक थान में उसके नापने के लिए भी अलग-अलग गज प्रस्तुत करे या प्रत्येक व्यक्ति अपन"-अपना अलग कानून बना कर न्यायाधीश को कहे कि मेरा केस बिल्कुल नया है, इसलिए इसका निर्णय किसी पुराने कानून से नही, अपितु मेरे बनाये हुए इस नये नियम से होना चाहिए। जब किसी भी क्षेत्र मे इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उसे हम अराजकता की स्थिति कह सकते है। आज का साहित्य भी इसी अराजकता की स्थिति में से गुजर रहा है, जिसके फल स्वरूप चार पक्तियाँ लिखकर ढोल पीट सकने वाले व्यक्ति अपने को श्रेष्ठ साहित्यकार सिद्ध कर रहे है जब कि श्रेष्ठ साहित्यकारों की वाणी नक्कारखाने मे तूती की आवाज सिद्ध हो रही है। प्रश्न है, साहित्य को इस अराजकता की स्थिति मे से कैसे निकाला जाय ?

अराजकता का निराकरण सदा नियम, व्यवस्था एव शासन की शक्तियो से होता है। इनमे सबसे पहले सामान्य नियमो के स्थापन की आवश्यकता होती है। साहित्य-क्षेत्र की अराजकता को दूर करने के लिए भी ऐसे नियमो या सिद्धान्तो को स्थापित करने की आवश्यकता है जो सर्वमान्य या बहुमान्य हो सकें। प्राचीन साहित्य-शास्त्र के रूप में हमारे पास नियमों एव सिद्धान्तो का विशाल संग्रह विद्यमान है किन्तु जैसा कि पीछे संकेत किया गया है, उसे ऐसा रूप दिये जाने की आवश्यकता है जो आज के युग के लिए स्वीकार्य हो। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परपरागत साहित्य-शास्त्र के प्रति आधुनिक युग की अनास्था का जहाँ एक कारण नई वैज्ञानिक चेतना है तो दूसरा कारण यह भी है कि स्वयं साहित्य-शास्त्र भी अनेक असगतियो, रूढ़ियों एव अस्पष्टताओ से युक्त है। वह हमारे किसी भी प्रश्न का एक निश्चित उत्तर नही दे पाता, एक ही तथ्य की व्याख्या वह विभिन्न सिद्धान्तो के आधार पर

विभिन्न शब्दों में करता है जिससे हमारी शंकाओं का कोई निर्विवाद समाधान प्राप्त नहीं होता । एक ही विशेषता को कोई अलंकार की संज्ञा देता है तो कोई ध्वनि की और कोई प्रतीक या बिम्ब की । उदाहरण के लिये बिहारी के प्रसिद्ध दोहे "नहि पराग नहिं मधुर मधु ..." वाले दोहे को लीजिये । इसे अलंकारवादी अन्योक्ति का उदाहरण बतायेगा तो ध्वनिवादी अलंकार ध्वनि का, वक्रोक्तिवादी प्रकरण-वक्रता का, रसवादी शृंगार रस का, प्रतीकवादी प्रतीक-विधान का और बिम्बवादी बिम्ब-विधान का । ऐसी स्थिति में भला किस की बात मानी जाय ?

अस्तु, परंपरागत सिद्धान्तों के रूप मे हमारे साहित्य-शास्त्र के पास विचारों की अथाह निधि तो है, किन्तु उसे व्यवस्थित एवं समन्वित रूप देने की आवश्यकता है। दूसरे, उसे धार्मिक एवं दार्शनिक परिकल्पनाओं के स्थान पर मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र एव आधुनिक विज्ञान के तथ्यो पर आधारित करने की आवश्यकता है— जिससे कि वह वैज्ञानिक युग के लोगों की आस्था का विषय बन सके । जिस प्रकार भाषा सम्बन्धी परंपरागत ज्ञान को वैज्ञानिक पद्धति से व्यवस्थित एवं संशोधित करके 'भाषा-विज्ञान' की तथा मन सम्बन्धी ज्ञान को व्यवस्थित करके 'मनोविज्ञान' की प्रतिष्ठा की गई है, वैसे ही साहित्य-शास्त्रीय ज्ञान को व्यवस्थित करके उसे 'साहित्य-विज्ञान' का रूप दिये जाने की आवश्यकता है । यह बात सुनने में एकाएक विचित्र-सी लग सकती है, क्योकि प्राय: लोग विज्ञान का क्षेत्र भौतिक पदार्थो तक ही सीमित समझते है, किन्तु जैसा कि 'भाषा-विज्ञान' और 'मनोविज्ञान' जैसे सूक्ष्म विषयों से सिद्ध है, वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किसी भी विषय-क्षेत्र मे किया जा सकता है । वस्तुत. विज्ञान का अर्थ विशुद्ध ज्ञान या व्यवस्थित ज्ञान है ; अत: किसी भी विषय के विशुद्ध एव व्यवस्थित ज्ञान को 'विज्ञान' कह सकते है । 'साहित्य-विज्ञान' मे जहाँ एक ओर परपरागत साहित्य-शास्त्र को व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया जा सकता है, वहाँ दूसरी ओर तत्सम्बन्धी नये प्रश्नो का उत्तर खोजने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान एव सौन्दर्य-शास्त्र आदि से भी अपेक्षित सहायता ली जा सकती है । अस्तु, हमारे विचार से साहित्य-क्षेत्र की उपर्युक्त अराजकता की स्थिति के निराकरण के लिए हमें सर्व प्रथम परम्परागत साहित्य-शास्त्र को 'साहित्य-विज्ञान' का रूप देने का प्रयास करना चाहिए । तदनन्तर 'साहित्य-विज्ञान' के सिद्धान्तो के आधार पर साहित्यिक कृतियों का विश्लेषण एव मूल्यांकन किया जाना चाहिए। 'साहित्य-विज्ञान' के निष्कर्षो के आधार पर हम इस बात का सम्यक् निर्णय कर सकेगे कि कौन से तत्त्व विशुद्ध साहित्यिक है और कौन से असाहित्यिक है ; तथा इस निर्णय के आधार पर ही विभिन्न साहित्यिक रचनाओ की ऐसी व्याख्या एवं समीक्षा प्रस्तुत हो सकेगी जिसे हम व्यक्ति-सम्मत (Subjective) न कहकर विषय-सम्मत (Objective) कह सकेंगे । अतः हम आगे इसी 'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना का प्रयास करते हुए उसकी प्रारंभिक रूप-रेखा प्रस्तुत करेगे ।

●

२
साहित्य-विज्ञान :
स्वरूप और पद्धति

●

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, साहित्य-क्षेत्र की वर्तमान अराजकता की स्थिति के निराकरण के लिए परपरागत साहित्य-शास्त्र को वैज्ञानिक पद्धति द्वारा संशोधित, व्यवस्थित एव विकसित करके उसे 'साहित्य-विज्ञान' के रूप मे प्रतिष्ठित किये जाने की आवश्यकता है। यहाँ हम इसी आवश्यकता-पूर्ति के उद्देश्य से 'साहित्य-विज्ञान' की प्रारम्भिक रूप-रेखा प्रस्तुत करते हैं।

२·१· 'साहित्य-विज्ञान' की परिभाषा—

'साहित्य-विज्ञान' का शाब्दिक अर्थ है—साहित्य का विज्ञान। किसी भी विषय के वैज्ञानिक पद्धति द्वारा उपलब्ध, शोधित, एव व्यवस्थित ज्ञान को सामान्यत: 'विज्ञान' कहा जाता है। इस दृष्टि से हम साहित्य सम्बन्धी उस समस्त ज्ञान को जो कि वैज्ञानिक पद्धति द्वारा उपलब्ध, शोधित एव व्यवस्थित है 'साहित्य-विज्ञान' की संज्ञा दे सकते है। जिस प्रकार साहित्य का शास्त्रीय विवेचन 'साहित्य-शास्त्र' की सज्ञा प्राप्त करता है वैसे ही साहित्य का वैज्ञानिक विवेचन 'साहित्य-विज्ञान' कहा जा सकता है। 'साहित्य-विज्ञान' का अग्रेजी पर्याय 'लिट्रोलॉजी' (Literology) बनाया जा सकता है। 'साहित्य विज्ञान के समकक्ष किसी अन्य विषय के उदाहरण के रूप में हम 'भाषा-विज्ञान', 'मनो-विज्ञान' आदि का नाम ले सकते है।

२·२· साहित्य-विज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र—

साहित्य-विज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र सामान्यतः साहित्य सम्बन्धी विभिन्न तथ्यों, विषयो, समस्याओं आदि के अध्ययन तक सीमित रहेगा—यह दूसरी बात है कि जहाँ साहित्य के अध्ययन मे सहायता मिलती हो वहाँ गौण रूप से किसी अन्य विषय का भी अध्ययन किया जा सकता है। साहित्य के अध्ययन-क्षेत्र को भी मुख्यतः दो पक्षो में

विभाजित किया जा सकता है—(१) साहित्य के सामान्य सिद्धान्तों की स्थापना। (२) स्थापित सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न साहित्यिक कृतियों का विवेचन एवं विश्लेषण। इन्हें क्रमशः सैद्धान्तिक पक्ष एवं व्यावहारिक पक्ष भी कहा जा सकता है। सैद्धान्तिक पक्ष के भी तीन भेद किये जा सकते है—(१) साहित्य के स्वरूप का विश्लेषण। (२) साहित्य की सर्जन एवं विकास प्रक्रिया का विश्लेषण। (३) साहित्य की आस्वादन-प्रक्रिया का विश्लेषण। इनमे प्रत्येक के और भी अनेक उपभेद किये जा सकते हैं, जिनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नही है।

साहित्य-विज्ञान के व्यावहारिक पक्ष को भी मुख्यत छ. खण्डो मे विभक्त किया जा सकता है—(१) विशिष्ट साहित्यकार के व्यक्तित्व एव उसकी सर्जन-प्रक्रिया का अध्ययन (२) विशिष्ट साहित्यिक कृति का तात्त्विक विश्लेषण (३) विशिष्ट साहित्य-रूप का अध्ययन (४) विशिष्ट साहित्य-परपरा का अध्ययन। (५) विशिष्ट साहित्यिक प्रवृत्ति का अध्ययन और (६) विशिष्ट साहित्य-शैली का अध्ययन। वस्तुतः ये भेद स्थूल रूप से ही किये गये है; आवश्यकतानुसार इनके भेदोपभेदो में सशोधन एवं विस्तार किया जा सकता है। जिस प्रकार 'मनोविज्ञान' के विकास के साथ-साथ उसके विभिन्न भेदों एवं प्रभेदो का विस्तार होता जा रहा है—जैसे, समाज-मनोविज्ञान, शिक्षण-मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, व्यावहारिक मनोविज्ञान आदि—उसी प्रकार 'साहित्य-विज्ञान' के विकास के साथ-साथ उसके भी अध्ययन-क्षेत्र की सीमाओं, दिशाओं और उसके भेदोपभेदो मे आवश्यकतानुसार विस्तार किया जा सकता है। अतः इस सम्बन्ध में यहाँ अधिक विवेचन अनपेक्षित होगा।

२.३. साहित्य-विज्ञान की अध्ययन-पद्धति—

जैसा कि प्रारम्भ मे कहा गया था, 'साहित्य-विज्ञान' में वैज्ञानिक पद्धति का ही प्रयोग किया जायगा, अन्यथा हम उसे 'विज्ञान' नही कह सकते, किन्तु स्वयं वैज्ञानिक पद्धति का स्वरूप भी विषय की प्रकृति के अनुसार बदलता रहता है। उदाहरण के लिए भौतिक विज्ञान में जिस पद्धति का प्रयोग किया जाता है, वही पद्धति मनोविज्ञान में प्रयुक्त नही हो सकती क्योंकि भौतिक विज्ञान में बाह्य स्थूल पदार्थो का अध्ययन किया जाता है, अतः उसमें बाह्य निरीक्षण की पद्धति पर अधिक बल दिया जाता है जबकि मनोविज्ञान मे आंतरिक सूक्ष्म अनुभूतियो के विश्लेषण के लिए अन्तर्दर्शन की पद्धति को महत्त्वपूर्ण माना गया है। 'साहित्य-विज्ञान' में भी मुख्यतः मानसिक अनुभूतियो एव कल्पनाओं जैसी सूक्ष्म सामग्री का विश्लेषण किया जायगा, अतः उसमें भी सामान्यतः मनोविज्ञान की ही पद्धति का अवलम्बन ठीक रहेगा। डा० जदुनाथ सिन्हा ने मनोविज्ञान के लिए मुख्यतः अन्तर्दर्शन, निरीक्षण, और प्रयोग की पद्धतियों को स्वीकार्य माना है,[1] जिन्हें हम साहित्य पर भी लागू कर

१. मनोविज्ञान : डा० जदुनाथ सिन्हा (हिन्दी अनुवाद), पृ० १०।

सकते हैं। अन्तर्दर्शन पद्धति के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"अन्तर्दर्शन का अर्थ है स्वयं अपने अनुभव पर ध्यान केन्द्रित करना। यह मानस प्रत्यक्ष है। अन्तर्दर्शन के द्वारा हम अपने सुख, दुःख, हर्ष, शोक, क्रोध, भय, स्मृति, कल्पना, विचार, प्रयत्न आदि का ज्ञान प्राप्त करते है। यह बाह्यगत निरीक्षण नही है—यह अनियमित आन्तरिक प्रत्यक्ष भी नही है—यह स्वय अपनी मानसिक प्रक्रियाओं का नियमित या अवहित निरीक्षण है। यह मनोविज्ञान की विलक्षण विधि है जो अन्य प्राकृतिक विज्ञानो मे अप्राप्य है।"[2] साहित्य-विज्ञान में भी मानसिक अनुभूतियो के अध्ययन एव विश्लेषण में मुख्यतः अन्तर्दर्शन की पद्धति का ही प्रयोग किया जायगा। इतना अवश्य है कि अन्तर्दर्शन का तात्पर्य हमें 'अनुभूति' मात्र न लेकर, 'अनुभूति के बौद्धिक विश्लेषण' से लेना चाहिए। या यों कहिये कि अन्तर्दर्शन के अन्तर्गत भावुकतापूर्ण व्याख्याओं एव निराधार कल्पनाओं को स्थान नही मिलना चाहिये अपितु मानसिक अनुभूतियों का तटस्थ बुद्धि के द्वारा किये गये विश्लेषण को ही स्थान मिलना चाहिए।

मनोविज्ञान की दूसरी पद्धति 'निरीक्षण' की है। इसका उपयोग मनोवैज्ञानिक विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहार के अध्ययन में करते है। साहित्य मे जहाँ तक विशुद्ध साहित्यिक तथ्यो का सम्बन्ध है निरीक्षण के लिए बहुत कम अवकाश है किन्तु फिर भी साहित्य सम्बन्धी कतिपय समस्याओ के अध्ययन मे, जैसे—कवियों के व्यक्तित्व एव चरित्र के अनुशीलन में, साहित्य में वर्णित विषयों की बाह्य विषयों की तुलना में, साहित्यानुभूति के समय सामाजिक के द्वारा व्यक्त चेष्टाओं आदि के अध्ययन मे, इस पद्धति का उपयोग भी आवश्यकतानुसार किया जा सकता है।

मनोविज्ञान की तीसरी पद्धति प्रयोग या परीक्षण की है। इस पद्धति के अनुसार विभिन्न तथ्यो की पुष्टि के लिए विभिन्न व्यक्तियों पर विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये जाते है। साहित्य के लिए यह पद्धति सर्वथा नवीन है—किन्तु अनुपयोगी नही है। साहित्य के अनेक विवादास्पद विषयो के निर्णय मे प्रयोग की पद्धति का उपयोग किया जा सकता है। उदाहरण के लिए डा० आइ० ए० रिचर्ड्स ने अपनी पुस्तक "प्रैक्टिकल क्रिटिसिज्म" मे जिस पद्धति का प्रयोग किया है, वह विशुद्ध प्रयोगात्मक पद्धति का नमूना है। उन्होने कुछ कविताओ के नमूने विभिन्न पाठको को भेजकर उनसे उनके सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे—जिससे कि उनकी तत्सम्बन्धी अनुभूतियों एव मानसिक प्रभाव का पता चल सके। पाठको को उन्होंने कविताओ के रचयिताओ का नाम आदि कुछ नही बताया, जिससे कि वे तटस्थरूप मे अपनी अनुभूतियाँ बता सकें। अन्त मे डा० रिचर्ड्स ने इन सभी उत्तरो का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करते हुए अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये है—जिन्हें हम वैज्ञानिक पद्धति से उपलब्ध निष्कर्ष कह सकते है। विभिन्न समाज-शास्त्रीय (Social Sciences) विषयों

---

२. मनोविज्ञान : डा० जदुनाथ सिन्हा (हिन्दी अनुवाद), पृ० १०।

भी प्रायः इस पद्धति का अवलम्बन किया जाता है। अतः आवश्यकतानुसार इस पद्धति का भी उपयोग 'साहित्य विज्ञान' में किया जा सकता है।

उपर्युक्त पद्धतियो का व्यवहार मुख्यतः 'साहित्य-विज्ञान' के व्यावहारिक पक्ष में तथा नये ज्ञान की उपलब्धि में किया जायगा, पर 'साहित्य-विज्ञान' के सैद्धान्तिक पक्ष मे जहाँ कि परम्परागत ज्ञान को ही संशोधित एवं व्यवस्थित करने का लक्ष्य हो, वहाँ उपर्युक्त पद्धतियों से काम नही चलेगा। इसके लिए हमें विभिन्न विद्वानों के विचारों का सकलन एवं संग्रह, विषय-क्षेत्र के अनुसार सकलित सामग्री का वर्गीकरण, प्रत्येक वर्ग की सामग्री के गुण-दोषों का विश्लेषण, एवं विश्लेषण के द्वारा प्राप्त विभिन्न तथ्यों के सश्लेषण द्वारा सामान्य एव समन्वित सिद्धान्तो की स्थापना का प्रयास करना होगा। इस प्रकार सक्षेप में हमे सकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण एव सश्लेषण या समन्वय की प्रक्रियाओ का अनुगमन करना होगा। प्रस्तुत ग्रथ मे मुख्यतः इन्ही प्रक्रियाओं का व्यवहार किया गया है।

२.४. साहित्य-विज्ञान : सम्भावित आक्षेप –

प्रत्येक नये प्रयास के विरोध में विद्वानो के द्वारा आक्षेप प्रस्तुत किये जाने की सम्भावना रहती है—'साहित्य-विज्ञान' के रूप मे भी एक नये विषय की स्थापना का प्रयास किया जा रहा है, अत सभव है इसके विरोध में भी कुछ आक्षेप प्रस्तुत किये जायँ। हमारे अनुमान से वे आक्षेप ये हो सकते है—(१) जब साहित्य शास्त्र जैसा विषय पहले ही विद्यमान है तो एक नये विषय की स्थापना की क्या आवश्यकता है? (२) साहित्य और विज्ञान मे परस्पर विरोध है अतः दोनो को मिलाना उचित नही। यदि उन्हे मिलाया गया तो इससे साहित्य भी एक शुष्क, बौद्धिक एव यान्त्रिक प्रक्रिया का रूप प्राप्त कर लेगा। (३) साहित्य की प्रक्रियाएँ इतनी सूक्ष्म है कि उनका वैज्ञानिक अध्ययन सभव नही। (४) साहित्य में व्यक्ति भेद एव रुचि-भेद होता है, अतः साहित्य के सामान्य सिद्धान्त निर्धारित नही किये जा सकते। इन आक्षेपो पर हम यहाँ क्रमशः विचार करते है।

सबसे पहला आक्षेप साहित्य-शास्त्र से पृथक् साहित्य-विज्ञान की आवश्यकता के सम्बन्ध मे ही है। इस सम्बन्ध मे हम पिछले अध्याय मे विस्तार से बता चुके है कि किस प्रकार परम्परागत साहित्य-शास्त्र की अगाध ज्ञान-निधि एक ओर अपने अव्यवस्थित एव विशृंखलित रूप के कारण तथा दूसरे आधुनिक युग की वैज्ञानिक चेतना के कारण अग्राह्य एवं अनुपयोगी सिद्ध हो रही है, अतः उसे संशोधित, व्यवस्थित एव वैज्ञानिक रूप देने की आवश्यकता है। साहित्य-शास्त्र की सारी सामग्री एकाएक सशोधित एव व्यवस्थित नही हो जायगी—उसमे समय लगेगा; अतः जब तक सारी सामग्री सशोधित न हो जाय तब तक अशुद्ध एवं अव्यवस्थित सामग्री से सशोधित सामग्री को पृथक् बनाये रखना आवश्यक है, इसलिए

'साहित्य-शास्त्र' से 'साहित्य-विज्ञान' को पृथक् अस्तित्व देने की आवश्यकता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्य शास्त्र और साहित्य-विज्ञान में कोई सम्बन्ध ही नही रहेगा, या ये एक दूसरे के विरोधी होंगे ; वस्तुतः ऐसा नहीं होगा। साहित्य-विज्ञान की आधारभूत सामग्री के रूप मे साहित्य-शास्त्र की सामग्री का उपयोग किया जायगा तथा 'साहित्य-विज्ञान' को 'साहित्य-शास्त्र' का ही सशोधित एवं विकसित रूप माना जायगा, अतः उनमे पारस्परिक विरोध की कोई सभावना नहीं। साहित्य-शास्त्र और साहित्य-विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धों का स्पष्टीकरण हम पूर्ववर्ती भाषा-शास्त्र और नवस्थापित भाषा-विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्धो के आधार पर भी कर सकते है। जिस प्रकार भाषा-विज्ञान में भाषा-शास्त्र एव व्याकरण के पूर्ववर्ती विद्वानों के योग-दान को उचित स्थान दिया गया, तथा भाषा-विज्ञान की स्थापना से भाषा-शास्त्र एव व्याकरण-शास्त्र की कोई हानि नही हुई ; वैसे ही 'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना से परपरागत साहित्य-शास्त्र की कोई हानि नहीं होगी अपितु उसका सम्यक् उपयोग होगा। अतः 'साहित्य-विज्ञान' की पृथक् स्थापना की आवश्यकता एव उपयोगिता मे सदेह करना अनावश्यक है।

दूसरा आक्षेप साहित्य और विज्ञान को मिलाने के विरोध मे है। हम 'साहित्य-विज्ञान' के रूप में साहित्यिक रचनाओ मे किसी वैज्ञानिक पद्धति की प्रतिष्ठा का प्रयास नही कर रहे है, अपितु पूर्व-रचित रचनाओ के अध्ययन की पद्धति को ही वैज्ञानिक रूप देने का प्रयत्न कर रहे है। 'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना से पहले भी साहित्य के क्षेत्र में की जाने वाली गवेषणा और अनुसधान में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया जा रहा है, तथा उससे साहित्य का कोई अहित नही हुआ है—अतः 'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना से साहित्यिकता को किसी प्रकार की ठेस लगने की सभावना नही। वस्तुतः किसी भी विषय का निर्भ्रान्त, शुद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन अन्ततः उस विषय की उन्नति मे ही योग देता है—अतः 'साहित्य-विज्ञान' भी साहित्य की उन्नति मे योग देगा ; ऐसी आशा की जा सकती है।

तीसरे आक्षेप के अनुसार साहित्य की प्रक्रियाएँ इतनी सूक्ष्म होती है कि उनका वैज्ञानिक अध्ययन सभव नही। यह आक्षेप भी उचित नही। आज मनोविज्ञान में सूक्ष्म मानसिक प्रक्रियाओ का अध्ययन सफलतापूर्वक किया जाता है अतः साहित्य की भी सूक्ष्म प्रक्रियाओ का—जो कि मुख्यतः मानसिक स्तर की होती है—वैज्ञानिक अध्ययन संभव है। यदि ऐसा न होता तो 'साहित्य-शास्त्र' की भी स्थापना नही होती क्योकि उसमें साहित्य की विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन शास्त्रीय ढंग से किया गया है जबकि उसे हम अब वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास कर रहे है।

अंत में चौथा आक्षेप साहित्य के क्षेत्र में व्यक्ति भेद एव रुचि-भेद सम्बन्धी है। अवश्य ही जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में व्यक्ति-भेद एवं रुचि-भेद विद्यमान है, किन्तु इसी से वैज्ञानिक का कार्य नही रुकता। धरती के सारे पदार्थ एक जैसे

नहीं हैं, सभी पदार्थो के रासायनिक गुण एक जैसे नहीं हैं, तथा सभी प्राणियों के शारीरिक ढाँचे एवं मानसिक संस्थान एक जैसे नही है, फिर भी भौतिक विज्ञानी, रसायन-शास्त्री, जीव-विज्ञानी एवं मनोवैज्ञानिक अपना-अपना कार्य करते ही हैं। वस्तुतः वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा पदार्थों, व्यक्तियों मनोवृत्तियों, रुचियो आदि के भेदों को वर्गीकृत करके उनका अध्ययन एवं विश्लेषण कर लिया जाता है। इसी लिए विज्ञान में सामग्री-संकलन के अनन्तर सर्वप्रथम वर्गीकरण की पद्धति को अपनाया जाता है।

अस्तु, उपर्युक्त सभी आक्षेप हमारे लक्ष्य एवं प्रयास को ठीक प्रकार से न समझे जाने की स्थिति मे ही प्रस्तुत किये जा सकते है। अन्यथा यह निश्चित है कि साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन जहाँ एक ओर परम्परागत साहित्य-शास्त्र को व्यवस्थित रूप देगा वहाँ वह साहित्य सम्बन्धी नये तथ्यों एवं नये सिद्धान्तो की उपलब्धि में भी सहायक सिद्ध होगा। साथ ही यह भी एक निर्विवाद सत्य है कि किसी भी विषय का शुद्ध एव व्यवस्थित ज्ञान सदा उस विषय की प्रगति एवं उन्नति में ही योग देता है—अतः 'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना से किसी प्रकार के अहित की आशंका करना अनुचित है।

२.५. साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या के पूर्व प्रयास—

जहाँ तक हमारी जानकारी है—'साहित्य-विज्ञान' जैसे किसी अलग विषय की स्थापना का कोई प्रयास इससे पूर्व नही मिलता, किन्तु अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या, या साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास अवश्य किया है। इस क्षेत्र में सर्व प्रथम उन्नीसवी शती के विद्वान **सेंत ब्यव** का नाम उल्लेखनीय है; उन्होंने साहित्यिक कृतियों को समझने के लिए साहित्यकार के अध्ययन पर बल देते हुए रचना के मूल स्रोतों को रचयिता के व्यक्तित्व में खोजने की वैज्ञानिक पद्धति का सकेत किया। उनके अनन्तर श्री **तेन** ने भी साहित्य के अध्ययन के लिए अपना त्रि-सूत्री सिद्धान्त प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार प्रत्येक साहित्य को उसकी परम्परा, परिवेश और उसके युग-विशेष के आधार पर विश्लिष्ट करना आवश्यक समझा गया। उनका यह सिद्धान्त पूर्णतः मान्य हो या नहीं—किन्तु उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था, इसमें कोई संदेह नहीं। उनके अतिरिक्त भी अनेक फ्रेंच विद्वानों—ब्रन्तेअर, (Bruntiere) बौरजेत (Bourget), हेनेक्विन (Henequin) आदि ने भी तेन की भाँति ही साहित्य को उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया है।[3]

श्री आर० जी० मौल्तन (R. G. Moulton) ने अपने ग्रंथ—'शेक्सपियर

---

३. साइन्स एण्ड लिट्रेरी क्रिटिसिज्म : डिंगले, १९५४।

एज ए ड्रामेटिक आर्टिस्ट' में साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास करते हुए प्रतिपादित किया है—"As botany deals inductively with the phenomena of vegetable life and traces the laws underlying them, as economy reviews and systematises on inductive principles and the facts of commerce, so there is a criticism not less inductive in character which has for its subject-matter literature"[४] इस प्रकार श्री मौल्तन महोदय की धारणा के अनुसार साहित्यालोचन को भी वैसा ही तर्क बद्ध रूप दिया जा सकता है जैसा कि वनस्पति-विज्ञान एवं अर्थ-शास्त्र का है।

जहाँ उपर्युक्त विद्वानों ने प्रकृति विज्ञान के आधार पर साहित्य-समीक्षा की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है वहाँ राबर्टसन (J. M. Robertson) एवं आइ० ए० रिचर्ड्स ने मनोविज्ञान के आधार पर साहित्य की मूल्यांकन पद्धति की निर्धारण का समर्थन किया है। स्वयं रिचर्ड्स महोदय ने प्रेषणीयता और मूल्यांकन के सम्बन्ध में नये सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये है जो कि मनोविज्ञान-सम्मत माने जाते है।

साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का सबसे अधिक जोरदार समर्थन अब तक हरबर्ट डिगले ने किया है। उन्होने अपनी पुस्तक "साइन्स एण्ड लिट्रेरी क्रिटिसिज्म"[५] में वैज्ञानिक पद्धति के पक्ष में अनेक सबल तर्क प्रस्तुत किये हैं। अपने विरोधियों के इस तर्क का कि साहित्य केवल अनुभूति की वस्तु है, बौद्धिक विवेचन की नहीं, अतः वैज्ञानिक विवेचन नही हो सकता—उन्होंने खडन करते हुए लिखा है—"यदि साहित्य से केवल अनुभूति ही प्राप्त हो सकती है तो फिर हमें उससे केवल अनुभूति ही प्राप्त करनी चाहिए; फिर उस पर कुछ लिखने की, या यह कहने की कि कोई कविता हमें क्यों कम या अधिक प्रभावित करती है कोई चर्चा न करें। और यदि चाहते हो कि आलोचना होती रहे तो फिर वह जितनी वैज्ञानिक हो सकती है, उतनी वैज्ञानिक उमे होने दिया जाय। इसका विरोध करना उचित नहीं है।"[६] वस्तुतः जिस प्रकार हम सर्दी और गरमी की अनुभूति प्राप्त करते हैं और उस अनुभूति को वैज्ञानिक अपने विश्लेषण के द्वारा 'ताप-विज्ञान' का रूप दे देता है, या मनोवैज्ञानिक मन की अनुभूतियों का विश्लेषण वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत कर देता है, उसी प्रकार साहित्य की अनुभूनियों का भी वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा सकता है।

श्री **मार्टिन जान्सन** महोदय ने अपनी पुस्तक 'आर्ट एण्ड साइंटिफिक थॉट[७]

---

४. साइन्स एण्ड लिट्रेरी क्रिटिसिज्म : डिगले १९५४, पृ० ६।
५. वही।
६. वही, पृ० १५।
7. Art and Scientific thought : Martin Johnson, I.

में कलाओं के माध्यम से होने वाले भावात्मक संप्रेषण की व्याख्या विद्युत् के माध्यम से होने वाले संदेशों के आदान-प्रदान या प्रेषण के अनुरूप करने का प्रयास किया है। उनके विचार से साहित्य की सूक्ष्म प्रेषणीयता को भौतिक विज्ञान की प्रेषणीयता के नियमों के प्रकाश में समझा जा सकता है। उन्होने यह भी दावा किया है कि भविष्य में प्रतीकवाद के सिद्धान्तो के आधार पर विज्ञान, धर्म और साहित्य में पारस्परिक एकता स्थापित हो जायगी।[६]

इसी प्रकार आक्सफोर्ड की 'इंटरनेशनल फेडरेशन फार मार्डन लैंग्वेजेज एंड लिट्रेचर्स' सस्था के तत्त्वावधान मे सन् १९५४ मे यूरोप के अनेक विद्वानों ने ऐसे लेख पढ़े हैं, जिनमें साहित्य और विज्ञान को निकट लाने का प्रयास किया गया है। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण लेख ये है[७]—(१) दी रिलेशन्स बिट्वीन साइन्स एंड लिट्रेचर; लेखक—हर्बर्ट डिंगले (२) मैक्निकल ऐडस् फार दी स्टडी आफ लैंग्वेज एण्ड लिट्रेरी स्टाइल; ई० आर० विन्सेण्ट (३) दी इम्पैक्ट आफ साइन्स अपोन दी कन्सैप्ट आफ इमेजिनेशन; ई० आर० ब्रिगस (४) लिट्रेरी हिस्ट्री एण्ड दी हिस्ट्री आफ साइन्स (५) साइन्टिफिक मैथड इन दी फ्रेंच क्लासिकल राइटर्स, डबल्यू० जी० मूर (६) साइन्टिफिक एनेलिसिस एण्ड इण्टरप्रीटेशन इन माडर्न जर्मन लिट्रेरी क्रिटिसिज्म (७) ...ट्रक्शन ... ...रियलिटी इन माडर्न साइन्स, आर्ट एण्ड पोइट्री; रोनाल्ड पीकॉक। ...लेखो मे साहित्य के इतिहास, स्वरूप, शैली आदि से सम्बन्धित कुछ ...षण वैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। इस प्रकार हम देखते है कि ...अध्ययन को वैज्ञानिक रूप देने के प्रयास में अनेक विद्वान् लगे हुए है, किन्तु ... अपेक्षित रूप मे सफल नही हो रहे है। हमारे विचार से इन प्रयासों में ...कित आधारभूत त्रुटियाँ है—

(क) ये विद्वान् साहित्य के अलग-अलग पक्षों पर स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रहे ... । साहित्य का सर्वांगीण विवेचन इनके द्वारा नही हो रहा है। साथ ही एक विद्वान् के कार्य से दूसरे विद्वान् के कार्य का भी कोई सम्बन्ध स्थापित नही होता।

(ख) ये विद्वान् साहित्य की विषय-वस्तु (Matter) एव शैली-रूपों (Form) का ही विवेचन कर रहे है किन्तु उसकी मूल शक्ति (Energy) की उपेक्षा कर रहे हैं जिससे इनके द्वारा साहित्य की साहित्यिकता का उद्घाटन नही होता।

(ग) इनका दृष्टिकोण प्राय: एकांगी है—किसी ने केवल भाषा-विज्ञान को आधार माना है तो किसी ने केवल मनोविज्ञान को।

(घ) इन्होंने साहित्य-शास्त्रीय परम्परागत ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा की है; उससे नये ज्ञान का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया।

---

6. Art and scientific thought, Page 36.
7. Literature and science : Oxford, 1954.

(ङ) इस नये ज्ञान को भी परस्पर सम्बद्ध संगठित एवं व्यवस्थित करके किसी एक सुव्यवस्थित विषय का रूप नहीं दिया गया ।

(च) इनकी प्रतिपादन शैली इतनी अधिक शुष्क, शास्त्रीय एवं दुरूह है कि जिससे साहित्य-क्षेत्र के विद्वान् सामान्यतः इनके लेखों को नहीं समझ पाते । भौतिक विज्ञान के तथ्यों, गणित के फार्मूलो एवं मनोविज्ञान की शब्दावलियो के प्रयोग के कारण इनका प्रतिपादन अत्यन्त दुर्बोध हो गया है ।

उपर्युक्त त्रुटियो के कारण ही अब तक अनेक विद्वानों के प्रयत्न के बावजूद भी साहित्य-सिद्धान्तों एवं साहित्य-समीक्षा को कोई वैज्ञानिक रूप प्राप्त नही हो सका ।

२.६. प्रस्तुत प्रयास की नवीनता—

यद्यपि हमारा लक्ष्य भी उपर्युक्त विद्वानों के लक्ष्य की भाँति साहित्य के अध्ययन, विवेचन एव मूल्यांकन को वैज्ञानिक रूप देने का ही है, किन्तु हमने उपर्युक्त त्रुटियो से बचने का भरसक प्रयत्न किया है । परिणामस्वरूप प्रस्तुत प्रयास मे बहुत सी ऐसी विशेषताएँ आ गई है जो कि पूर्वकृत प्रयासों मे नही मिलती ; जैसे कुछ ये है—

(क) इसमे साहित्य सम्बन्धी सारे विवेचन को वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार शक्ति (Energy), द्रव्य (Matter) एव रूप (Form) के अन्तर्गत विभाजित करते हुए शक्ति (या आत्मा) को केन्द्र मे रक्खा गया है तथा शेष दो पक्षो के विवेचन को उसी से सुसम्बद्ध रूप दिया गया है । इससे न केवल साहित्य के घटक तत्त्वो एव बाह्य रूप-शैलियो का विवेचन हो पाया है अपितु साहित्य की सूक्ष्म शक्ति—साहित्यिकता का भी उद्घाटन हो पाया है ।

(ख) सारे विवेचन को योजनाबद्ध एव व्यवस्थित रूप देते हुए एक स्वतत्र विषय—साहित्य-विज्ञान—के रूप मे प्रतिष्ठित किया गया है ।

(ग) इसमे साहित्य सम्बन्धी परम्परागत ज्ञान की उपेक्षा न करते हुए उसे संशोधित रूप में स्वीकार किया गया है। साथ ही प्राचीन एवं नवीन ज्ञान को परस्पर सुसम्बद्ध एवं समन्वित रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

(घ) इसमे किसी एक ही विषय को आधार न बनाकर आवश्यकतानुसार सभी सम्बन्धित विषयो—काव्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, भाषा-विज्ञान आदि की सामग्री का उपयोग किया गया है ।

(ङ) विवेचन-शैली को वैज्ञानिकता से युक्त रखते हुए भी उसे दुरूहता एव शुष्कता से बचाये रखने का पूरा प्रयास किया गया है ।

इस प्रकार हमने अपनी ओर से प्रस्तुत प्रयास को त्रुटियों से बचाने का पूरा यत्न किया है फिर भी इसके सर्वथा निर्दोष होने का दावा नही किया जा सकता ।

वस्तुतः ज्ञान की गतिशील परम्परा में प्रत्येक व्यक्ति का प्रयास एक अगला चरण मात्र होता है, अतः हम अधिक आशा न करते हुए भी यह कह सकते हैं कि साहित्य सम्बन्धी जानकारी को वैज्ञानिक रूप देने की दिशा में प्रस्तुत प्रयास एक नया कदम मात्र है ।

●

३

"साहित्य" : अर्थ-मीमांसा

३.१. 'साहित्य' : व्युत्पत्ति एवं अर्थ—

'साहित्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'सहित' से मानी गई है।[1] सहित का अर्थ है—साथ, संग, युक्त आदि।[2] सहित का भाववाचक रूप ही साहित्य है, अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'साहित्य' शब्द का अर्थ है—साहचर्य। किन्तु यह अर्थ अस्पष्ट एव अपूर्ण है। यहाँ प्रश्न उठता है किसका साहचर्य? आचार्यों ने इसका उत्तर दिया है—शब्द और अर्थ का साहचर्य,[3] पर यह अर्थ स्वयं 'साहित्य' शब्द से व्युत्पन्न नही होता। 'साहित्य' में केवल साहचर्य का भाव है, किन्तु वह साहचर्य शब्द और अर्थ का ही है, ऐसा हम किस आधार पर स्वीकार करें?

उपर्युक्त प्रश्न के समाधान के लिए हमें साहित्य शब्द के इतिहास पर दृष्टि-पात करना होगा। विद्वानों का मत है कि सस्कृत में 'साहित्य' शब्द काव्य का परवर्ती है।[4] पहले साहित्य के स्थान पर काव्य का ही प्रयोग होता था छठी-सातवी शती में भामह ने काव्य की परिभाषा करते हुए लिखा था—"शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" अर्थात् शब्द और अर्थ का मेल ही काव्य है।'[5] आगे चल कर अन्य आचार्यों ने भी भामह की 'शब्दार्थ सहित' वाली बात को बारंबार दोहराया है। संभवतः प्रयत्न-लाघव की प्रेरणा से ही इसी 'शब्दार्थौ सहितौ' का ही सक्षिप्त सकेतात्मक शब्द 'साहित्य' चल पड़ा हो। राजशेखर, भोज, कुन्तक प्रभृति आचार्यों ने भी साहित्य की व्याख्या करते हुए शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव पर ही बल दिया है; देखिये—

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र : श्री बलदेव उपाध्याय, २००७ वि, पृ० ५७१।
२. सस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ।
३. भामह, राजशेखर, भोजराज आदि।
४. रामदहिन मिश्र : काव्य-दर्पण, पृ० ४६, तथा भा० शा० सा०, पृ० ५६४।
५. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र, पृ० ३५।

(क) राजशेखर—'शब्दार्थयोर्यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य विद्या' ।[६]

(ख) भोजराज—'किं साहित्यम् ? यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः' ।[७]

(ग) कुन्तक—'सहितयोर्भावः साहित्यम् । अनयो : शब्दार्थयोर्या…[८] ।'

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित है कि संस्कृत के आचार्य 'साहित्य' का प्रयोग शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव के लिए ही करते रहे है । दूसरी ओर कुछ विद्वानों ने यह भी बताया है कि संस्कृत-साहित्य में भामह से पूर्व 'साहित्य' शब्द का प्रयोग नही मिलता ।[९] इस स्थिति में हमारा यह अनुमान कि 'साहित्य' भामह की उक्त परिभाषा—'शब्दार्थौ सहितौ'—का ही संक्षिप्त सकेत है, अनुचित नहीं कहा जा सकता । यदि यह अनुमान पूर्णतः ठीक न भी हो तो भी इतना स्पष्ट है कि साहित्य शब्द काव्य का पर्यायवाची रहा है तथा इसका आशय शब्द और अर्थ के साहचर्य भाव से रहा है । व्यावहारिक दृष्टि से शब्दार्थ के साहचर्य वाली प्रत्येक रचना को साहित्य कहना कहाँ तक उचित है—इस पर आगे साहित्य की परिभाषा निर्धारित करते समय विचार किया जायगा ।

३.२. 'काव्य' ओर 'साहित्य' में अर्थ-भेद—

भाषा-विज्ञान का यह नियम है कि एक भाषा मे एक ही अर्थ के लिए दो शब्दों का प्रयोग समान रूप से नही होता—जब कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न भी हो जाती है तो आगे चलकर उनके अर्थो मे न्यूनाधिक अन्तर आ जाता है ।[१०] यह बात 'काव्य' और 'साहित्य' के अर्थ-भेद पर भी लागू होती है । प्रारम्भ मे ये दोनो शब्द समानार्थक थे, किन्तु आगे चलकर 'काव्य' का अर्थ संकुचित हो गया जबकि 'साहित्य' का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ मे होने लग गया । सप्रति दोनों के अर्थ में निम्नांकित भेद है—

(क) 'काव्य' का प्रयोग मुख्यतः पद्यात्मक रचनाओं के लिए होता है जबकि 'साहित्य' का गद्यात्मक के लिए । उदाहरण के लिए 'कविता', 'प्रबन्ध', 'मुक्तक', 'गीति' आदि के लिए 'काव्य' का प्रयोग होता है जब कि निबन्ध, उपन्यास, कहानी, आलोचना आदि गद्य रूपों के लिए 'साहित्य' का प्रयोग किया जाता है । वैसे इसके अपवाद-स्वरूप भावपूर्ण गद्यात्मक रचनाओं को भी 'गद्य-काव्य' कहा जाता है । कदाचित् उसमें पद्य की सी भावात्मकता होने के कारण ही ऐसा किया जाता है ।

---

६. काव्य-मीमांसा, पृ० ५ ।
७. भा० साहित्य-शास्त्र, पृ० ५६५ ।
८. वक्रोक्ति जीवितम्, कारिका १७, प्रथमोन्मेष ।
९. श्री बलदेव उपाध्याय एव श्री रामदहिन मिश्र ।
१०. भाषा-विज्ञान ।

(ख) 'काव्य' शब्द सामान्यतः एक रचना के लिए प्रयुक्त होता है जबकि 'साहित्य' का प्रयोग रचनाओं के समूह के लिए होता है। 'काव्य' के बहुवचन के लिए प्रायः 'काव्य-ग्रन्थ' 'काव्य-कृतियाँ' आदि का प्रयोग किया जाता है—जैसे—'प्रसाद की काव्य-कृतियाँ' 'गुप्त जी के काव्य-ग्रन्थ'। इसके विपरीत 'साहित्य' शब्द समूह का ही बोध कराता है ; जैसे—'हिन्दी-साहित्य' 'प्रेमचन्द-साहित्य'।

(ग) 'साहित्य' शब्द 'काव्य' की अपेक्षा अधिक प्रचलित, व्यापक एवं मान्य हो गया है। 'साहित्य' के अन्तर्गत काव्य-ग्रन्थों का भी समावेश हो जाता है जबकि 'काव्य' में 'साहित्य' का समावेश आंशिक रूप में ही होता है। इसी प्रकार 'साहित्य-सम्मेलन' 'साहित्य-परिषद्' 'साहित्यकार' 'साहित्य-सेवी'—आदि शब्द भी काव्य की अपेक्षा साहित्य के महत्त्व की अधिकता को सूचित करते है।

अस्तु, प्रत्येक दृष्टि से आज 'साहित्य' शब्द ही 'काव्य' से अधिक मान्य है—इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए प्रस्तुत अध्ययन में भी 'साहित्य' के प्रयोग को प्राथमिकता दी गई है।

३.३. 'साहित्य' और 'लिट्रेचर'—

'साहित्य' शब्द के अर्थ-विकास में अग्रेजी भाषा एवं साहित्य के प्रभाव ने भी पर्याप्त योग दिया है। अँगरेजी में 'पोइट्री' (Poetry) की अपेक्षा 'लिट्रेचर' (Literature) शब्द का प्रयोग अधिक व्यापक अर्थ मे होता है। हिन्दी में भी इन्हीं के अनुकूल क्रमशः 'काव्य' एवं 'साहित्य' का प्रयोग किया जाने लगा। फलतः अगरेजी के 'लिट्रेचर' के साथ जितने अर्थ सम्बद्ध थे, वे प्रायः सभी 'साहित्य' से भी सम्बन्धित हो गये। स्वय 'लिट्रेचर' शब्द के भी विभिन्न युगों में विभिन्न अर्थ रहे है। 'लिट्रेचर' शब्द की व्युत्पत्ति 'लैटर' (Letter) या अक्षर से मानी जाती है—अतः इसका मूल अर्थ है—'अक्षरो से सम्बन्धित'।[११] आगे चलकर लगभग चौदहवी शती में इसका अर्थ विकसित हुआ—'अक्षर ज्ञानवाला' या 'पढ़ा-लिखा व्यक्ति'।[१२] अठारहवी शती तक आते-आते पढ़े-लिखे व्यक्ति के कार्य या धन्धे को भी 'लिट्रेचर' कहा जाने लगा।[१३] उन्नीसवी शती मे इसके अनेक नये अर्थ विकसित हुए, जैसे—(१) किसी देश या काल विशेष मे लिखित रचनाएँ (२) वे विशेष लिखित रचनाएँ जिनमें शैली का सौन्दर्य हो तथा जो भावोत्पादक हो। (३) किसी विशेष विषय की पुस्तके। (४) किसी भी प्रकार की मुद्रित सामग्री। 'साहित्य' शब्द का भी 'लिट्रेचर' से सपर्क लगभग इसी समय हुआ, अतः ये चारों अर्थ 'साहित्य' के साथ भी सम्बद्ध हो गये।[१४] इन चारों प्रकार के अर्थों के लिए क्रमशः उदाहरण इस प्रकार दिये जा सकते हैं—(१) देश या काल विशेष की रचनाओं के लिये—'भारतीय साहित्य' 'प्राचीन साहित्य'। (२) भावोत्पादक

११—१४. आक्सफोर्ड डिक्शनैरी : खंड ६ में 'लिट्रेचर'।

रचनाओं के लिए—'भक्ति साहित्य' 'श्रृंगारी साहित्य' (३) किसी विशेष विषय की पुस्तकों के लिए—'वैज्ञानिक साहित्य' (४) किसी भी प्रकार की मुद्रित सामग्री के लिए—'हमारी कम्पनी का साहित्य' 'बीमा सम्बन्धी साहित्य' आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लिट्रेचर' से व्यक्त होने वाले आधुनिक सभी अर्थों के लिए 'साहित्य का प्रयोग होने लग गया है तथा दोनों शब्द समानार्थक बन गये हैं।

३.४. 'साहित्य' का अभिधात्मक एवं लाक्षणिक अर्थ—

साहित्य और लिट्रेचर के उपर्युक्त अर्थों में से सभी एक ही कोटि के नहीं हैं; उनमें से कुछ अभिधात्मक हैं एवं कुछ लाक्षणिक। केवल 'साहित्य' कहने से जिस अर्थ का बोध होता है, वह उसका अभिधेयार्थ है जबकि प्रसंग के अनुसार मूल अर्थ के बाधित होने पर जिन अर्थों को लक्षित किया जाता है, वे लक्ष्यार्थ है। इस दृष्टि से उपर्युक्त अर्थो में से केवल दूसरा अर्थ जो कि भावोत्पादक विशिष्ट शैली में रचित रचनाओं से सम्बन्धित है, 'साहित्य' का अभिधेयार्थ या वाच्यार्थ है, जबकि विभिन्न विशेषणों या प्रसग-विशेष के सकेत से उपलब्ध अन्य अर्थ उसके लक्ष्यार्थ हैं, जैसे 'वैज्ञानिक साहित्य' 'कम्पनी का साहित्य' आदि से लक्षित होने वाले अर्थ। 'वैज्ञानिक' 'कम्पनी' आदि के साथ साहित्य का अभिधेयार्थ बाधित हो जाता है—इसी से अन्य अर्थों की उपलब्धि यहाँ लक्षणा शक्ति के द्वारा होती है यह दूसरी बात है कि यहाँ लक्षणा भी प्रयोजनवती न होकर रूढ़ि मात्र ही होती है। अस्तु, साहित्य के वाच्यार्थ का सम्बन्ध ललित भावोत्पादक रचनाओ से ही है, केवल तथ्यों की सूचना देने वाली रचनाओं से नहीं। शास्त्रीय विवेचन मे विशेषतः पारिभाषिक शब्दो में उनके वाच्यार्थ को ही ग्रहण किया जाता है, लक्ष्यार्थ को नही, अन्यथा वह वैसी ही भूल होगी, जैसी कि जीव-विज्ञान के ग्रन्थ में 'गर्दभ' का लक्ष्यार्थ ग्रहण कर लेने पर हो सकती है—अतः प्रस्तुत पुस्तक में तथा अन्य साहित्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में भी सामान्यतः इसका वाच्यार्थ ही ग्रहण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में और अधिक स्पष्टीकरण आगे साहित्य की परिभाषा पर विचार करते समय किया जायगा।

४
साहित्य की परिभाषा

●

४.१. परिभाषा : सामान्य विवेचन—

शास्त्रीय या वैज्ञानिक पद्धति में लिखे गये ग्रन्थों में किसी शब्द का अर्थ स्पष्ट एवं निश्चित करने के लिए जिस शब्दावली का निर्धारण होता है, उसे 'परिभाषा' कहा जाता है।[1] जैसा कि डा० आई० ए० रिचर्ड्स ने स्पष्ट किया है[2]—परिभाषा का लक्ष्य सदा ज्ञात के आधार पर अज्ञात तक पहुँचना होता है, इसलिए परिभाषा में एक तो सम्बन्धित विषय का कोई एक पक्ष या कोई एक अग न लेकर उसके सामान्य रूप का परिचय दिया जाना चाहिए। दूसरे, उसमें सूच्य विषय के ऐसे लक्षणों को लिया जाना चाहिए जो कि पहले से स्पष्ट हो, व्याख्या-सापेक्ष न हों। तीसरे, परिभाषा अति व्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष से मुक्त होनी चाहिए। 'साहित्य' की परिभाषा पर विचार करते समय भी इन बातो को ध्यान मे रखना उचित होगा।

४.२. परंपरागत परिभाषाओं की परीक्षा—

परंपरागत काव्य-शास्त्र में काव्य या साहित्य की शताधिक परिभाषाएँ मिलती हैं; ऐसी स्थिति में उनमें से किसी एक का चयन करना बहुत कठिन है, साथ ही उनमें से अधिकाश उपर्युक्त विशेषताओं से भी युक्त नही है। यहाँ कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानो द्वारा प्रस्तुत कुछ परिभाषाओं पर विचार करते हैं—

(क) भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत

(अ) **भामह**—शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है।[3]

(आ) **दण्डी**—इष्ट अर्थ से विभूषित पद-समूह ही काव्य-शरीर है।[4]

---

१. डिक्शनैरी आफ् वर्ल्ड लिट्रेरी टर्म्स : शिप्ले, पृ० ९२।
२. मीनिंग ऑफ् मीनिंग : रिचर्ड्स १९५६, पृ० २४६
३. काव्यालंकार, १।१६।
४. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा, पृ० ४७।

(इ) **वामन**—'काव्य' शब्द गुण तथा अलंकार से संस्कारित शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है।[५]

(ई) **राजशेखर**—'गुण और अलंकारों से युक्त वाक्य ही काव्य हैं।[६]

(उ) **कुन्तक**—शब्द और अर्थ का मनोहर विन्यास साहित्य है, जिसमें शब्द और अर्थ परस्पर इतने सतुलित हो कि न तो कोई न्यून हो और न कोई अधिक हो।[७]

(ऊ) **मम्मट**—वह शब्द और अर्थ जो दोष से रहित हो, गुण से मडित हो—भले ही कहीं-कहीं अलंकार-शून्य भी हो—काव्य है।[८]

(ए) **विश्वनाथ**—रसात्मक वाक्य काव्य होता है।[९]

(ऐ) **जगन्नाथ**—रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है।[१०]

यदि हम उपर्युक्त परिभाषाओ पर क्रमशः विचार करे तो इनमें कोई भी सर्वथा निर्दोष एव पूर्णतः स्पष्ट सिद्ध नही होगी। भामह की परिभाषा—'शब्द और अर्थ' मिलकर काव्य होता है—जितनी काव्य पर लागू होती है उतनी ही शास्त्र, इतिहास, भूगोल या मौखिक वार्तालाप पर भी। जहाँ भी सार्थक भाषा का प्रयोग होता है—वहाँ शब्द और अर्थ दोनों का मेल या साहचर्य देखा जा सकता है, अतः इस परिभाषा के आधार पर काव्य और अकाव्य का कोई निर्णय नही हो सकता। दण्डी ने इसमें 'अर्थ' के साथ 'इष्ट' विशेषण और लगा दिया है, इससे उनकी परिभाषा भामह की परिभाषा से अधिक निश्चित हो गई है, किन्तु स्वय 'इष्ट' शब्द बहुत व्यापक एवं अस्पष्ट है। किसी भी व्यक्ति के लिए कोई भी शुभ समाचार इष्ट अर्थवाला हो सकता है, किन्तु उसे साहित्य या काव्य की सज्ञा दी जा सके यह निश्चित नही है। फिर एक व्यापारी के लिए गद्य-बद्ध शुष्क व्यावसायिक संवाद भी इष्ट अर्थ वाला हो सकता है जब कि किसी काव्य की कोमलतम शब्दावली भी उसके इष्ट से बहुत दूर पड़ सकती है—अतः दण्डी कृत परिभाषा भी स्वीकार्य नही कही जा सकती। इसी प्रकार वामन और राजशेखर ने 'इष्ट' के स्थान पर 'गुण और अलंकार, का प्रयोग किया है—अवश्य ही इनकी परिभाषाएँ पूर्ववर्ती परिभाषाओं से अधिक स्पष्ट है, किन्तु 'गुण' और अलकार शब्द स्वय पारिभाषिक शब्द है—अतः काव्य की परिभाषा को समझने के लिए पहले इनका अर्थ समझना पड़ेगा जो ठीक नही। जैसा कि हमने प्रारभ मे कहा है किसी भी परिभाषा में ऐसे शब्दों का ही प्रयोग किया

५. काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, १।१।१।
६. काव्य-मीमांसा।
७. वक्रोक्ति जीवितम्, १।१७।
८. काव्य-प्रकाश, १।४।
९. साहित्य-दर्पण, २।१।
१०. रस गंगाधर।

जाना चाहिए जो व्याख्या-सापेक्ष न हों—अतः इस दृष्टि से ये परिभाषाएँ भी दोष-पूर्ण हैं। साथ ही गुण और अलंकार के प्रयोग से ही कोई रचना काव्यत्व से सम्पन्न हो जायगी, यह भी विवादास्पद है।

कुन्तक ने 'शब्द और अर्थ का इतना संतुलन हो कि न तो कोई न्यून हो, न कोई अधिक, कह कर पाठक के सामने एक पहेली प्रस्तुत कर दी है। शब्द और अर्थ के इस संतुलन को जाँचने के लिए हमारे पास कौन सी कसौटी है? फिर सतुलित शब्दो का प्रयोग तो वैज्ञानिक एव शास्त्र-रचयिता भी करता है—अपितु साहित्यकार से अधिक सतुलित रूप मे करता है, किन्तु उनकी रचनाओ को 'साहित्य' की सज्ञा नही दी जा सकती। मम्मट ने भी 'दोष रहित एव गुण' युक्त शब्दार्थ को काव्य माना है। इस दृष्टि से तो "मै कविता लिखता हूँ" वाक्य भी काव्य का उदाहरण समझा जाना चाहिए क्योंकि यह दोष से रहित है और प्रसाद गुण से युक्त है, परन्तु वस्तुतः इसे काव्य नही माना जा सकता। अतः कुन्तक की ही भाँति मम्मट की परिभाषा भी उपयुक्त नही है।

आ० विश्वनाथ एव प० जगन्नाथ ने क्रमशः रसात्मकता एवं रमणीयता को काव्यत्व का आधार माना है, किन्तु ये दोनो गुण भी अनिश्चित एवं अस्पष्ट हैं। एक रसिक व्यक्ति के लिए अपनी प्रेयसी के द्वारा उच्चरित कुछ शब्द भी रसात्मक एवं रमणीय हो सकते है, किन्तु इसी से उन्हे हम काव्य की सज्ञा से भूषित नही कर सकते। अवश्य ही काव्य मे रसात्मकता एव रमणीयता होती है, किन्तु अन्य क्षेत्रों में भी तो इनका अस्तित्व है, अत. ये परिभाषाएँ भी अति व्याप्ति दोष से युक्त है।

इस प्रकार हम देखते है कि आचार्य भामह से लेकर पडितराज जगन्नाथ तक काव्य की परिभाषा मे क्रमिक विकास तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु उनमे सर्वथा निर्दोष कोई भी नही है।

(ख) पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाएँ

(**अ**) **अरस्तू**—भाषा के माध्यम से होने वाली अनुकृति काव्य है।[११]

(**आ**) **सिडनी**—काव्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा और आनन्द प्रदान करना है।[१२]

(**इ**) **जे० डेनिस**—'काव्य भावात्मक एव विस्तृत भाषण के द्वारा प्रकृति की अनुकृति है।[१३]

---

11. "..... it is an imitation......by means of words'—Poetics.
12. "......Poesy is an art of imitation......with this end to teach and delight"—Psychological studies in Ras, 14.
13. Same, Page 15.

(ई) **कालरिज**—'काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है। जिसका तात्कालिक लक्ष्य ज्ञान प्रदान करना न होकर प्रसन्नता प्रदान करना होता है।[१४]

(उ) **शैली**—'काव्य सर्वाधिक सुखी एव श्रेष्ठतम हृदयों के श्रेष्ठतम क्षणों का लेखा-जोखा है।[१५]

(ऊ) **हैजलिट**—'काव्य कल्पना और भावों की भाषा है।[१६]

(ए) **मैकाले**—'काव्य से हमारा तात्पर्य उस कला से है जो कि शब्दों के प्रयोग से कल्पना का माया-जाल बुनती है।[१७]

(ऐ) **हडसन**—'मूलतः यह (काव्य) भाषा के माध्यम से जीवन की अभिव्यक्ति है।"[१८]

उपर्युक्त परिभाषाओं में से प्रथम तीन में 'अनुकृति' पर विशेष बल दिया गया है जिसके पीछे अरस्तू के अनुकृति सिद्धान्त की प्रेरणा परिलक्षित होती है। अनुकृति सिद्धान्त की समीक्षा हम अन्यत्र करेंगे किन्तु यहाँ संक्षेप मे इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि 'अनुकृति' शब्द को हम काव्य की परिभाषा मे स्थान नही दे सकते। एक तो यह शब्द स्वय काव्य के स्वरूप का परिचय कम देता है, काव्य-रचयिता की क्रिया-विधि पर अधिक प्रकाश डालता है, दूसरे, भाषा के माध्यम से किये गये प्रत्येक अनुकरण को काव्य नही कहा जा सकता, यदि ऐसा होता तो बड़ों की भाषा का अनुकरण करने वाले बच्चे सबसे बड़े कवि सिद्ध होते। यदि 'अनुकृति' का तात्पर्य भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति या वर्णन लिया जाय तो भी यह परिभाषा ठीक नहीं जँचती। बहुत से व्यक्ति अपने दिन भर के क्रिया-कलापो लेन-देन आदि का विवरण भाषा के माध्यम से तैयार करते है, जिन्हें काव्य नही कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि केवल प्रकृति की ही अनुकृति काव्य है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि 'सूर्योदय हो गया। फूल खिल गये। वर्षा हो रही है ·······।' आदि वाक्यों में प्रकृति की ही अनुकृति है, किन्तु वे काव्य के द्योतक नही हैं। वस्तुतः प्रत्येक अनुकृति सफल काव्य-रचना ही हो यह आवश्यक नही, अतः अरस्तू की परिभाषा को स्वीकार्य नहीं कहा जा सकता।

सिडनी ने अरस्तू की परिभाषा को नया रूप देते हुए उसमें अनुकरण के साथ-साथ 'शिक्षा देना' और 'आनन्द देना' का भी समावेश किया है, किन्तु वे 'भाषा से माध्यम' शब्द को भूल गये जिससे चित्रकला पर भी उनकी परिभाषा उतनी ही ठीक बैठती है, जितनी कि काव्य-कला पर बैठती है। साथ ही 'कला' शब्द भी

---

१४. पाश्चात्य काव्य शास्त्र की परम्परा, पृ० १६३।
१५. वही, पृ० १७६।
16. P. S. R., Page 18.
१७. वही, पृ० १८।
18. An Introduction to the study of Literature, Page 10.

व्याख्या-सापेक्ष है। डेनिस महोदय ने अनुकृति के साथ 'भावात्मक भाषण' का उल्लेख और किया है, किन्तु उनकी परिभाषा मे 'प्रकृति' शब्द का प्रयोग अनावश्यक है। काव्य में केवल प्रकृति ही नही, मानवी क्रिया-कलापों का भी वर्णन होता है, अतः उसे केवल प्रकृति तक सीमित करना उचित नही।

कालरिज ने प्रसन्नता प्रदान करने वाली प्रत्येक रचना को काव्य माना है, किन्तु प्रसन्नता केवल काव्य से ही नहीं—अन्य रचनाओं से भी मिलती है। एक चिन्तातुर माँ के लिए उसके पुत्र की कुशलता का संदेश देने वाला पत्र भी कम प्रसन्नतादायक नहीं होता, किन्तु उसे काव्य नही कह सकते और न ही शेली की परिभाषा को स्वीकार करते हुए केवल 'सर्वाधिक सुखी' व्यक्तियों के ही प्रत्येक लेखे-जोखे को काव्य कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त विरह, करुणा और शोक की प्रेरणा से भी अनेक काव्य लिखे गये है अतः केवल सुख के क्षणों मे रचित रचना को ही काव्य कहना अनुचित है। हैजलिट और मैकाले ने काव्य को कल्पना का मायाजाल और भावों की भाषा बताकर उसके कुछ तत्त्वों का सकेत अवश्य किया है, किन्तु उनकी परिभाषाओं से काव्य का स्वरूप बोध नही होता। जीवन की अभिव्यक्ति काव्य में ही नही, दर्शन, इतिहास, नीति-शास्त्र में भी होती है, अत. हडसन की परिभाषा के अनुसार काव्य में ही जीवन की अभिव्यक्ति मानना तर्क-सगत नही है। इसके अतिरिक्त 'जीवन की अभिव्यक्ति'—यह शब्दावली भी इतनी स्पष्ट नही है कि जिससे इसे परिभाषा में स्थान दिया जा सके। इस प्रकार हम देखते है कि उपर्युक्त परिभाषाओ में से कोई भी परिभाषा के वास्तविक लक्ष्य को पूरा नहीं करती—वे आँशिक रूप मे ही काव्य के कुछ पक्षों या तत्त्वो पर प्रकाश डालती है।

४.३. उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण—

यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाएँ दोष-पूर्ण है किन्तु फिर भी वे सर्वथा त्याज्य नही हैं। विभिन्न परिभाषाएँ साहित्य के विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डालती है—अतः यदि हम इन सभी परिभाषाओं मे निहित तत्त्वों को समन्वित कर सके तो उनके आधार पर साहित्य की एक सर्वागीण परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है। सामान्यत इन परिभाषाओं में इन तीन तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है—(१) साहित्य का स्थूल माध्यम क्या है ? (२) साहित्य का आधारभूत तत्त्व क्या है ? और (३) साहित्य का लक्ष्य या परिणाम क्या है ? यहाँ हम तीनों तथ्यो के आधार पर उपर्युक्त परिभाषाओं का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं :—

परिभाषा

(क) भारतीय वर्ग—	स्थूल माध्यम	आधारभूत तत्त्व	लक्ष्य
१. 'शब्द और अर्थ मिलकर काव्य होता है।' (भामह)	शब्द और अर्थ	×	×
२. 'इष्ट अर्थ से विभूषित पद-समूह ही काव्य-शरीर है।' (दडी)	पद-समूह	इष्ट अर्थ	×
३. 'काव्य शब्द गुण तथा अलकार से सस्कृत शब्द तथा अर्थ के लिए ही प्रयुक्त होता है।' (वामन)	शब्द और अर्थ	गुण तथा अलकार	×
४. 'गुण और अलकारो' से युक्त वाक्य ही काव्य है।' (राजशेखर)	वाक्य	गुण तथा अलकार	×
५. 'शब्द और अर्थ का मनोहर विन्यास साहित्य है जिसमे शब्द और अर्थ परस्पर इतने सतुलित हो कि न तो कोई न्यून हो और न कोई अधिक।' (कुन्तक)	शब्द और अर्थ	मनोहर	×
६. 'वह शब्द और अर्थ जो दोष से रहित हो, गुण से मडित हो भले ही कही अलकार शून्य हो काव्य है।' (मम्मट)	शब्द और अर्थ	दोष-रहित गुण मडित	×
७. 'रसात्मक वाक्य काव्य होता है।' (विश्वनाथ)	वाक्य	रसात्मक	×
८. 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है।' (जगन्नाथ)	शब्द	रमणीय अर्थ	×

(ख) पाश्चात्य वर्ग—

१. 'भाषा के माध्यम से होने वाली अनुकृति ·······काव्य है।' (अरस्तू)	भाषा	अनुकृति	×

२. 'काव्य वह अनुकरणात्मक कला है जिसका लक्ष्य शिक्षा देना और आनन्द देना है।' (सिडनी)	×	अनुकरणात्मक	शिक्षा, आनन्द
३. 'काव्य भावात्मक एव विस्तृत भाषण के द्वारा प्रकृति की अनुकृति है।' (जे० डेनिस)	भाषण	भावात्मक अनुकृति	×
४. 'काव्य रचना का वह विशिष्ट प्रकार है जिसका तात्कालिक लक्ष्य ज्ञान प्रदान करना न होकर प्रसन्नता प्रदान करना होता है।' (कालरिज)	रचना	×	प्रसन्नता प्रदान करना
५. 'काव्य कल्पना और भावो की भाषा है।' (हेजलिट)	भाषा	कल्पना और भाव	×
६. 'काव्य सर्वाधिक सुखी एव श्रेष्ठतम हृदयो के श्रेष्ठतम क्षणो का लेखा-जोखा है।' (शेली)	लेखा-जोखा	सुखी हृदय	×
७. 'काव्य वह कला है जो कि शब्दो के प्रयोग के द्वारा कल्पना का माया जाल बुनती है।' (मैकाले)	शब्दो	कल्पना का माया जाल	×

४.४. उपर्युक्त तालिका की व्याख्या—

उपर्युक्त तालिका से साहित्य के माध्यम, आधारभूत तत्त्वो एव उसके लक्ष्य के सम्बन्ध मे विभिन्न मतो पर प्रकाश पडता है। साहित्य के माध्यम के सम्बन्ध मे क्रमशः, शब्द, अर्थ वाक्य, पद-समूह, भाषा, भाषण, लेखा-जोखा आदि का उल्लेख किया गया है। इनमे से 'शब्द' और 'वाक्य' तो बहुत सीमित है—क्योकि साहित्य की रचना किसी एक शब्द या एक वाक्य मे नही होती ; तथा 'भाषण और 'लेखा-जोखा' आवश्यकता से अधिक व्यापक है। बिहारी जैसे कवियो के दोहो के लिए 'भाषण' शब्द बहुत भारी पड़ेगा—अत. यदि इन सबके स्थान पर हम केवल 'भाषा' शब्द का प्रयोग करे तो ये सभी मत इसमे समन्वित हो जाते है। साथ ही यह भी निर्विवाद तथ्य है कि साहित्य का माध्यम भाषा ही है—मनुष्य की अन्य रचनाओ से साहित्यिक कृतियो का प्रथम भेद इसी माध्यम का ही है—अतः इस तथ्य को हम साहित्य का प्रथम लक्षण मान सकते है।

साहित्य के आधारभूत तत्त्व के रूप में विभिन्न विद्वानों ने इष्ट अर्थ, अलंकार, गुण, दोष-शून्यता, रसात्मकता, अनुकृति भावात्मकता, कल्पना आदि का उल्लेख किया है। वस्तुतः प्रत्येक विद्वान् ने अपने-अपने काव्य-संप्रदाय या व्यक्तिगत दृष्टिकोण के अनुरूप ही तत्त्व-विशेष को काव्य का आधारभूत गुण माना है ; ऐसी स्थिति में इनमें से किस तत्त्व को ग्रहण किया जाय, यह समस्या है ? जैसा कि हमने इसी प्रबन्ध के पाँचवे अध्याय में स्पष्ट किया है ये सभी तत्त्व सौन्दर्य या आकर्षण के ही उत्पादक या घटक हैं, अतः इन सबका समन्वय 'सौन्दर्य या आकर्षण' के अन्तर्गत हो जाता है। कोई वस्तु सुन्दर या आकर्षक है या नहीं—इस सम्बन्ध में विशेष शास्त्रीय नियमों की जानकारी अपेक्षित नही है। जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है कोई भी व्यक्ति जो कि सम्बन्धित रचना के अर्थ-ग्रहण की क्षमता से युक्त है, उसके अन्तर्निहित सौन्दर्य या आकर्षण का अनुभव उसे पढ़कर या सुनकर कर सकता है। अतः हम साहित्य का दूसरा लक्षण 'उसके अर्थ-बोध से सौन्दर्य या आकर्षण की अनुभूति' को मान सकते हैं।

साहित्य के लक्ष्य के सम्बन्ध में भी तालिका में तीन मत दिये गये हैं—शिक्षा, आनन्द और प्रसन्नता। इनमें से शिक्षा या उपदेश को साहित्य का प्रमुख लक्ष्य नहीं माना जा सकता अन्यथा नीति-शास्त्र, एवं अन्य शास्त्रों से साहित्य में कोई अन्तर नहीं रह जायगा—यह दूसरी बात है कि साहित्य गौण रूप मे शिक्षा भी दे सके। उपर्युक्त तालिका में उद्धृत कालरिज की परिभाषा में भी इसका विरोध किया गया है ; अतः 'शिक्षा' सम्बन्धी मत विवादास्पद है। शेष दोनों मत—आनन्द और प्रसन्नता-मूलतः एक ही हैं ; आनन्द में ही प्रसन्नता का समावेश हो जाता है ; अतः हम केवल आनन्द पर विचार कर सकते है।

साहित्य का लक्ष्य आनन्द-प्रदान करना स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु आनन्द-प्रदान करने वाली प्रत्येक रचना साहित्य नही कहीं जा सकती। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति को अपने किसी मित्र के पत्र से आनन्द की उपलब्धि हो सकती है, किन्तु फिर भी यह आवश्यक नही कि उक्त पत्र 'साहित्य' कहा जा सके। वस्तुतः साहित्य से प्राप्त होने वाला आनन्द एक व्यक्ति या एक वर्ग तक सीमित नही होता अपितु उसका अनुभव समाज का प्रत्येक व्यक्ति जिसमें कि उसके अर्थ-बोध की क्षमता है—कर सकता है। अतः साहित्य के तीसरे लक्षण के रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य के अर्थ-बोध से समाज के प्रत्येक सामान्य व्यक्ति को आनन्द की उपलब्धि होती है। अपवाद स्वरूप समाज में कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो कि अपनी किसी विशेष मानसिक दशा या अवस्था के कारण साहित्य से आनन्द की अनुभूति न प्राप्त कर सकें, इसीलिए हमने यहाँ व्यक्ति के साथ 'सामान्य' विशेषण का प्रयोग किया है।

अस्तु, उपर्युक्त तीनों लक्षणों का समन्वय करते हुए साहित्य की परिभाषा

इस प्रकार निर्धारित की जा सकती है—"**साहित्य भाषा के माध्यम से रचित वह सौन्दर्य या आकर्षण से युक्त रचना है जिसके अर्थ-बोध से सामान्य व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है।**" हमारे विचार से यह परिभाषा सरल और स्पष्ट होने के साथ-साथ अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति के दोष से भी मुक्त है—अतः इसे साहित्य की निर्दोष परिभाषा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

●

५
साहित्य की आत्मा या शक्ति :
भारतीय दृष्टिकोण

●

५.१. साहित्य की आत्मा : सामान्य विवेचन—

भारतीय साहित्य-शास्त्र में लगभग दस-बारह शताब्दियों पूर्व एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया था कि साहित्य की आत्मा क्या है ? सामान्यत: 'आत्मा' शब्द का अर्थ है—विश्व का वह सारतत्त्व जो सभी प्राणियो में निवास करता है तथा जिसके अभाव में कोई भी प्राणी जीवित नही रह सकता। इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए यदि उपर्युक्त प्रश्न पर विचार करे तो वह कुछ असगत सा प्रतीत होगा—क्योकि साहित्य कोई प्राणधारी पदार्थ नही है, अत: उसमे आत्मा के अस्तित्व का प्रश्न ही नही उठता। फिर सभी प्राणियों की आत्मा एक जैसी—या एक ही—मानी गई है, प्राणियो के बाह्य भेदों से आत्मा का कोई सम्बन्ध नही माना गया है ; ऐसी स्थिति में साहित्य मे किसी विशेष आत्मा के होने का भी प्रश्न नही उठता। वस्तुत: यहाँ आत्मा शब्द लाक्षणिक रूप मे प्रयुक्त हुआ है जिसका अभिप्राय है—जिस प्रकार प्राणियों का सार तत्त्व या उनकी मूल जीवन-शक्ति आत्मा है वैसे ही साहित्य का सार तत्त्व या उसकी मूल जीवन-शक्ति क्या है ? या दूसरे शब्दो मे इस प्रश्न को इस प्रकार रक्खा जा सकता है—वह मूल शक्ति क्या है, जिसके कारण कोई रचना साहित्य की श्रेणी मे आती है तथा जिसके अभाव मे किसी भी रचना को साहित्य नही कहा जा सकता। इस प्रकार यहाँ 'आत्मा' शब्द का लाक्षणिक अर्थ हुआ—मूल शक्ति। 'शक्ति' का आधुनिक विज्ञान से भी गहरा सम्बन्ध है, अत: इस दृष्टि से भी इसे समझ लेना चाहिए।

५.२. 'शक्ति' : वैज्ञानिक विवेचन—

प्राचीन दर्शन-शास्त्र में जो स्थान 'आत्मा' का था लगभग वही स्थान आधुनिक विज्ञान में 'शक्ति' का है। आधुनिक विज्ञान में भौतिक-विज्ञान से लेकर

मनोविज्ञान तक सभी क्षेत्रों में शक्ति को ही सार तत्त्व माना गया है। भौतिक विज्ञान के अनुसार विश्व के प्रत्येक अणु में अमित मात्रा में शक्ति विद्यमान है। वस्तुतः संसार में जितना भी द्रव्य (Matter) है वह सारा शक्ति (Energy) का ही व्यक्त रूप है तो दूसरी ओर द्रव्य के प्रत्येक अंश को शक्ति में परिणत किया जा सकता है। इस प्रकार मूलतः द्रव्य और शक्ति अभिन्न हैं क्योंकि एक की परिणति दूसरे में संभव है। विज्ञान के अनुसार शक्ति अजर और अमर है क्योंकि ब्रह्माण्ड के समस्त द्रव्य में जितनी शक्ति विद्यमान है—सदा वह उतनी ही थी और उतनी ही रहेगी। न वह किंचित् बढ़ सकती है और न ही किंचित् घट सकती है। इतना अवश्य है कि द्रव्य के रूप-परिवर्तन के साथ-साथ शक्ति भी अपना रूप, क्षेत्र और स्तर बदलती रहती है—इसी को हम शक्ति का क्षय, ह्रास और विकास कहते है जब कि वस्तुतः वह शक्ति का स्थानान्तरण मात्र होता है। शक्ति के इन वैज्ञानिक नियमो के आधार पर ही आधुनिक विचारकों ने शक्तिवाद (Energism) की स्थापना की है, जिसके सिद्धान्त संक्षेप में ये है[1]—

(क) शक्तिवाद के अनुसार सभी प्राकृतिक क्रियाओं का अध्ययन एव निर्धारण इस तथ्य के आधार पर होना चाहिए कि ये सब क्रियाएँ विश्व मे व्याप्त शक्ति के ही विभिन्न रूपों से सम्बन्धित है।

(ख) भौतिक जगत में जो भी परिवर्तन होते हैं, वे बाह्य दृष्टि से भले ही कितने ही परस्पर असम्बद्ध एव भिन्न प्रतीत होते हो किन्तु मूलतः उनके पीछे किसी न किसी शक्ति का हाथ होता है।

(ग) विश्व मे व्याप्त सभी शक्तियाँ मूलतः एक ही शक्ति के विभिन्न रूप-भेद हैं। प्राकृतिक एव वैज्ञानिक प्रक्रियाओ के द्वारा शक्ति के एक रूप को दूसरे रूप मे परिवर्तित किया जाना सभव है। उदाहरण के लिए, जिस प्रकार एक ही विद्युत् की शक्ति पखे, मोटर, हीटर, रेडियो आदि मे विभिन्न रूपो मे कार्य करती है वैसे ही विभिन्न शक्तियाँ एक ही शक्ति के विभिन्न रूप है।

शक्तिवाद के उपर्युक्त नियम आत्मवाद के सिद्धान्तो से बहुत मिलते-जुलते हैं। शक्ति और आत्मा दोनो ही को सर्वत्र-व्याप्त, अक्षय, अमर एव सार तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है—अन्तर केवल यही है कि एक के पीछे वैज्ञानिक दृष्टिकोण है जब कि अन्य का सम्बन्ध अध्यात्मवादी दर्शन से है। फिर भी जहाँ तक साहित्य का सम्बन्ध है, आत्मा और शक्ति दोनो एक ही अभिप्राय के द्योतक है—अतः यदि हम "साहित्य की आत्मा" के स्थान पर वैज्ञानिक दृष्टि से 'साहित्य की शक्ति' कहें तो भी अनुचित नही होगा।

---

1. Cosmology : Volume I, By D. Nys, Page 246-7 (English translation).

५.३. साहित्य और शक्ति-सिद्धान्त—

विज्ञान का शक्ति-सिद्धान्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जिसके आधार पर न केवल भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान एवं मनोविज्ञान की बहुत सी समस्याओं को सुलझाया जा चुका है अपितु इसका उपयोग विभिन्न प्रकार के शास्त्रीय विषयों जैसे—अर्थ-शास्त्र एवं राजनीति शास्त्र आदि में भी किया जा चुका है, किन्तु साहित्य के क्षेत्र में इस सिद्धान्त को लागू करने का प्रयास अभी तक किसी ने नहीं किया है। हमारे विचार से निम्नांकित दृष्टिकोणों से ऐसा किये जाने की गहरी आवश्यकता है—

(क) शक्ति-सिद्धान्त का सम्बन्ध सभी प्रकार की प्राकृतिक क्रियाओं से है—साहित्य की रचना एवं आस्वादन की प्रक्रिया भी एक मानसिक प्रक्रिया होने के कारण प्राकृतिक क्रिया है ; अतः शक्ति-सिद्धान्त के आधार पर इसे समझने में बड़ी सहायता मिलेगी।

(ख) साहित्य के सिद्धान्तों को वैज्ञानिक रूप देने के लिये भी यह आवश्यक है कि हम उन्हें दार्शनिक मान्यताओं के स्थान पर वैज्ञानिक नियमों के आधार पर प्रतिष्ठित करें।

(ग) मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी शक्ति-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हो चुकी है—तथा उसमें 'मानसिक शक्ति' के नाम से शक्ति के एक विशेष रूप को मान्यता दी जा चुकी है तथा साहित्य के विभिन्न तत्त्वों भाव, अनुभूति, कल्पना आदि का मानसिक शक्ति से गहरा सम्बन्ध है। अतः इस दृष्टि से भी शक्ति सिद्धान्त उपयोगी सिद्ध होगा।

अस्तु, उपर्युक्त दृष्टिकोणों से हम साहित्य में शक्तिवाद के सिद्धान्तों का उपयोग करते हुए साहित्य की शक्ति की व्याख्या करने का प्रयास करेंगे। किन्तु इससे पूर्व साहित्य की आत्मा या शक्ति से सम्बन्धित विभिन्न परपरागत मतों का भी अनुशीलन कर लेना चाहिए, सभव है कि उनके अध्ययन से साहित्य की मूल शक्ति के अनुसधान में हमें सहायता प्राप्त हो। इन परंपरागत मतों को भी हम दो वर्गो में बाँट सकते है—(१) भारतीय मत—रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य। (२) पाश्चात्य मत—अनुकृति, औचित्य, अलकृति, उदात्त, कल्पना, बिम्ब-विधान और सौन्दर्य। यहाँ हम पहले भारतीय मतों पर विचार करते हैं।

५.४. रस : काव्यात्मा के रूप में—

रस-संप्रदाय के कुछ आचार्यों के अनुसार काव्य की आत्मा **रस** है,[१] इस मत पर विचार करने से पूर्व हमें रस का स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए। आचार्य भरतमुनि के मतानुसार 'आस्वादन आना ही रस है।'[२] भरतपरवर्ती आचार्यों—

१. भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा : डा० नगेन्द्र, पृ० ३४७।
२. 'रस इति कः पदार्थ : ? आस्वाद्यत्वात्'........नाटच-शास्त्र, ६।२६।

धनंजय, अभिनव गुप्त, मम्मट, विश्वनाथ ने भी इसका सम्बन्ध 'आस्वादन' या काव्यास्वादन से स्थापित किया है।[3] इस आस्वादन के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों ने इसे आनन्दरूपी माना है।[४] इस प्रकार सामान्य शब्दावली में कहे तो काव्य के आस्वादन से पाठक को जिस आनन्द की अनुभूति होती है वही रस है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस कोई काव्यगत तत्त्व नही है, वह काव्यास्वादन की प्रक्रिया से उत्पन्न बाह्य तत्त्व है, जिसकी स्थिति सहृदय पाठक में मानी गई है। ऐसी स्थिति मे हम उसे काव्य की आत्मा कैसे मान सकते है, क्योंकि काव्य की आत्मा का निवास तो स्वयं काव्य में ही होना चाहिए। रस काव्य की शक्ति नहीं है—अपितु उस शक्ति का कार्य या फल है, इसी लिए अनेक आचार्यों ने रस को काव्य का फल, उद्देश्य या प्रयोजन माना है।[५] ऐसी स्थिति मे हमे उस तत्त्व का अनुसंधान करना चाहिए जिससे कि रस उत्पन्न होता है या जो कि रस-निष्पत्ति का मूलाधार है ? रस के उत्पादक या आधार भूत कारण के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्य प्राय: एक-मत है, लगभग सभी ने 'स्थायीभाव' को रस का आधारभूत तत्त्व माना है,[६] अत: यह कहा जा सकता है कि काव्य की आत्मा रस नहीं, स्थायी भाव है, किन्तु इसे भी स्वीकार करने में कई अड़चने उपस्थित होती है। एक तो काव्य में स्वयं स्थायी भाव की भी स्थिति प्रत्यक्ष रूप मे स्वीकार नही की गई है, रस-निष्पत्ति के लिए स्थायी भाव की प्रत्यक्ष-रूप में नही अपितु विभावादि के माध्यम से अप्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्ति होनी चाहिए। अत: काव्य मे तो स्थायी भाव के व्यजक तत्त्व—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि ही प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान रहते है—स्थायी भाव नही। यदि स्थायी भाव का प्रत्यक्ष रूप में उल्लेख कर भी दिया जाय तो उससे रचना मे काव्यत्व का सचार होना तो दूर रहा, अपितु वह एक प्रकार का काव्य-दोष बन जायगा। ऐसी स्थिति मे उस स्थायी भाव को जो कि काव्य में प्रत्यक्ष रूप में विद्यमान नही रहता—काव्य की आत्मा या शक्ति कैसे माना जा सकता है ?

यहाँ एक बात और कही जा सकती है—काव्य की आत्मा स्थायी भाव नहीं अपितु स्थायीभाव की व्यंजना है। किन्तु व्यजना की स्थापना ध्वनि वादियो ने स्वतन्त्र रूप से या स्थायीभाव से पृथक रूप में भी की है तथा ध्वनिवादियों के

---

३. धनंजय, दशरूपक, ४, १।
४. डा० नगेन्द्र : रीतिकाल की भूमिका।
५. 'तेन रस एव नाट्यम् यस्य व्युत्पति : फलमित्युच्यते।' अभिनव भारती ६।१५। हिन्दी अनु० पृ० ४२८ तथा रामदहिन मिश्र : काव्य-दर्पण, पृ० ५६।
६. धनंजय—दशरूपक, ४, १। मम्मट—काव्य-प्रकाश, ४, २८। विश्वनाथ—साहित्य-दर्पण, ३, १।

अनुसार व्यंजना की शक्ति से भाव ही नहीं तथ्य और अलंकार भी काव्यत्व से युक्त हो जाते हैं, जैसा कि वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि जैसे भेदों से सिद्ध है। ऐसी स्थिति में स्थायी भाव की अपेक्षा स्वयं 'व्यंजना' शक्ति को ही काव्य की आत्मा क्यों न माना जाय ! इस प्रश्न पर आगे 'ध्वनि' के प्रसंग में विचार करेंगे, किन्तु यहाँ हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रस और स्थायी भाव—दोनों में से किसी को भी काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता—रस यदि उस आत्मा या शक्ति का कार्य है तो स्थायीभाव उसका साधन है ; स्वयं वह आत्मा या शक्ति क्या है, इस सम्बन्ध में रस-सिद्धान्त मौन है। आचार्य भरत के उल्लेखों के आधार पर उस शक्ति के बारे में अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि वह विभिन्न तत्त्वों—विभावानुभाव, व्यभिचारी आदि के संयोग से उत्पन्न होती है, तथा उसकी प्रक्रिया से पाठक के हृदव में 'रस' निष्पन्न होता है। वस्तुतः आचार्य भरत के युग में काव्यात्मा या शक्ति का विवाद उत्पन्न नहीं हुआ था, अतः उन्होने रस का प्रतिपादन काव्यात्मा की दृष्टि से नहीं किया। आगे चलकर जब विभिन्न संप्रदायों के द्वारा काव्यात्मा सम्बन्धी घोषणाएँ हुई तो रस सिद्धान्त के परवर्ती आचार्यों ने रस को भी काव्यात्मा के रूप मे प्रतिष्ठित करने का असफल प्रयास किया। यही कारण है कि रस का काव्यात्मा के रूप में उल्लेख 'अग्निपुराण' से पूर्व कही नही मिलता तथा महिम भट्ट एव विश्वनाथ जंसे कुछ परवर्ती आचार्यो ने ही रस की चर्चा आत्मा के रूप मे की है,[७] अस्तु, हम रस-सिद्धान्त को निर्दोष या सदोष न मान कर केवल इतना ही कहेगे कि काव्यात्मा सम्बन्धी प्रश्न पर विचार करना मूलतः उसका लक्ष्य नही था, संभवतः इसीलिए वह इस सम्बन्ध में मौन है।

५.५. अलंकार सिद्धान्त—

अलंकार सप्रदाय के आचार्यो के अनुसार काव्य की आत्मा 'अलंकार' है। भामह के अनुसार अलंकारों का आधारभूत तत्त्व 'वक्रोक्ति' (या बात को विचित्र ढंग से कहने की पद्धति) है तथा उनका लक्ष्य वाणी में चारुता उत्पन्न करना है।[८] आगे चलकर दडी ने भी इन्ही लक्षगो को स्वीकार करते हुए अलकार के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा—'काव्य शोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' अर्थात् काव्य के शोभाकारक धर्म 'अलकार' कहे जाते है।[९] भामह और दडी के अतिरिक्त उद्भट, वामन, रुद्रट, आदि आचार्यो ने भी यह स्वीकार किया है कि अलंकार चारुत्व या सौन्दर्य के हेतु या साधक है।[१०] ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि काव्य में अलंकारों का स्थान चारुता,

७. भारतीय साहित्य-शास्त्र : प्रो० बलदेव उपाध्याय।
८. काव्यालकार, १।३६।
९. काव्यादर्श, २।१।
१०. भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा, पृ० ६४, ६६ एवं ६६।

शोभा या सौन्दर्य की अपेक्षा हीन हैं—अर्थात् अलंकार सौन्दर्य के साधन मात्र हैं। उनका कोई स्वतंत्र महत्त्व नही। इसके विपरीत सौन्दर्य का स्वतन्त्र महत्त्व है, यानी अलंकारों के स्थान पर यदि किसी अन्य साधन से भी सौन्दर्य उत्पन्न हो सकता है तो वह भी काव्य में स्वीकार्य होगा। अस्तु, काव्य की आत्मा या शक्ति का पद अलंकारों को न देकर उनके साध्य 'सौन्दर्य' को ही दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त निष्कर्ष के विरोध में कदाचित् अलंकारवादी तर्क दे सकते हैं कि काव्य में अलंकार और सौन्दर्य की सत्ता अलग-अलग नही है—अर्थात् अलंकार ही सौन्दर्य है, या सौन्दर्य ही अलंकार है। एक स्थान पर आचार्य वामन ने ऐसा कहा भी है।[११] किन्तु इस तर्क को स्वीकार नही किया जा सकता। यदि अलंकार और सौन्दर्य एक ही है तो अलकारवादियों को यह कहने की आवश्यकता क्यों हुई कि 'अलंकारों से काव्य में शोभा उत्पन्न होती है।' स्पष्टतः यहाँ 'अलंकार' और 'शोभा' दो अलग-अलग सत्ताएँ है जिनका परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध है। यदि व्यावहारिक दृष्टि से भी देखें तो भी सौन्दर्य और अलकार अभिन्न सिद्ध नही होते—सौन्दर्य रहित अलंकार और अलकार रहित सौन्दर्य दोनो के ही अस्तित्व का विरोध नही किया जा सकता। फिर भी यदि अलकारवादी अलंकार को सौन्दर्य से अभिन्न मानें तो भी उपर्युक्त निष्कर्ष—'काव्य की आत्मा सौन्दर्य है'—से उनका कोई विरोध नही होना चाहिए क्योंकि उस स्थिति मे 'सौन्दर्य' मे 'अलकार' का प्रतिनिधित्व स्वतः ही हो जाता है।

५.६. रीति-संप्रदाय—

रीति-संप्रदाय के अनुसार काव्य की आत्मा 'रीति' है।[१२] 'रीति' के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए आचार्य वामन ने बताया है कि विशेष प्रकार की पद-रचना ही रीति है।[१३] विशेष से उनका तात्पर्य है—गुण-सपन्न।[१४] इस प्रकार गुण-संपन्न पद-रचना ही रीति सिद्ध होती है।

'रीति' के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'गुण-सपन्नता' का ही पर्याय रीति है—अत हमे 'गुणो' के स्वरूप की मीमासा करनी चाहिए। आचार्य वामन के मतानुसार गुण की परिभाषा है—"काव्यशोभाया : कर्तारो धर्मा गुणाः"[१५] अर्थात् काव्य में शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म ही गुण है। यहाँ स्पष्टतः ही 'गुण' को वही महत्त्व प्रदान किया गया है जो कि अलंकारवादियों ने अलंकार को दिया था।

---

११. 'सौन्दर्यमलंकारः' का० सू० वृ०, १।१।२।
१२. 'रीतिरात्मा काव्यस्य' वही, १।२।६।
१३. 'विशिष्ट पद रचना रीतिः', १।२।७।
१४. 'विशेषौ गुणात्मा', १।२।८।
१५. वही, ३।१।१।

अलंकारों की भाँति ही गुण भी काव्य-शोभा के साधक या साधन मात्र हैं, अतः गुणों को काव्य की आत्मा न मानकर उनके साध्य—शोभा या सौन्दर्य को ही आत्मा मानना अधिक उचित होगा।

यदि व्यावहारिक दृष्टि से भी देखें तो रीति में अनेक ऐसी असंगतियाँ एवं त्रुटियाँ हैं जिससे उसे काव्यात्मा का पद नहीं दिया जा सकता। प्रथम तो 'रीति' में ऐसे गुणों की चर्चा की गई है जो कि केवल साहित्य या काव्य से ही सम्बद्ध नहीं हैं, वे विज्ञान आदि में भी मिलते है। जैसे, प्रसाद (स्पष्टता) गुण विज्ञान की पुस्तकों में भी मिल सकता है। इसी प्रकार 'माधुर्य' गुण का सम्बन्ध काव्य की अपेक्षा सगीत से अधिक है। यद्यपि वामन ने गुणों की संख्या बीस तक पहुंचा कर उन्हे व्यापक बनाने का प्रयास किया किन्तु वे अपनी अस्पष्टता एवं अव्यावहारिकता के कारण प्रचलित नहीं हो पाये। फिर यह भी प्रश्न उठता है कि काव्य की आत्मा बीसों गुणों में है, या किसी एक में ! 'रीति' का वर्गीकरण इस प्रश्न को और भी जटिल बना देता है। एक ओर वामन दस गुणों वाली रचना को 'वैदर्भी' मानते हैं,[१६] तथा 'गौडी और पाँचाली' में दो-दो गुणों की स्थिति मानते है,[१७] किन्तु यदि किसी रचना में दो से अधिक और दस से न्यून गुण हुए—जैसे चार, छः या आठ तो उसे कहाँ स्थान देंगे ! ऐसे काव्य में वे 'आत्मा' का अस्तित्व मानेंगे या नही ? फिर वामन अकेले गुणों में ही काव्यत्व की पूर्ण क्षमता नही मानते। वे अन्यत्र स्वीकार करते है कि काव्य में सौन्दर्य गुण, अलंकार और दोष-शून्यता से उत्पन्न होता है।[१८]

अस्तु, गुण, अलंकार, दोष-शून्यता आदि शैली के साधन मात्र है, उनका साध्य काव्य में सौन्दर्य की उत्पत्ति करना है,—अतः इन साधनों की अपेक्षा स्वयं साध्य—सौन्दर्य को काव्य की आत्मा मानना अधिक उचित होगा।

५.७. ध्वनि—

ध्वनि संप्रदाय के उन्नायकों ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया है। किन्तु आचार्य अभिनव गुप्त ने 'ध्वनि' शब्द के पाँच अर्थ माने है—(१) व्यंजक शब्द, (२) व्यंजक अर्थ (३) व्यंजना शक्ति (४) व्यंग्यार्थ और (५) व्यग्यार्थ समन्वित काव्य।[१९] इस प्रकार व्यंजना शक्ति से सम्बन्धित सभी तत्त्वों—शब्द, अर्थ, काव्य आदि—को ध्वनि मान लिया गया है, किन्तु सामान्यतः जहाँ उक्ति में वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ अधिक सुन्दर हो उसे ही ध्वनि कहा जाता है।[२०] आचार्य आनन्दवर्द्धन ने

१६. 'समग्र गुणा वैदभा, १।२।११।
१७. 'ओजः कान्तिमती गौड़ीया', १।२।१२।
माधुर्य सौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली, १।२।१३।
१८. 'स दोष गुणालंकार हानादानाभ्याम्', १।१।३।
१९. ध्वन्यालोक (हिन्दी) भूमिका, पृ० २४ (डा० नगेन्द्र)
२०. काव्य-दर्पण : रा० द० मि०।

लिखा है—"उक्ति अन्तर से जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसे प्रकाशित करने वाला व्यंजना व्यापार युक्त शब्द ही 'ध्वनि' कहलाने का अधिकारी हो सकता है।"[२१] इस प्रकार ध्वनि की दो अनिवार्य शर्तें हैं—(१) चारुत्व का प्रकाशन (२) तथा व्यंजना-शक्ति के माध्यम से प्रकाशन। अतः चारुत्वहीन व्यंजना-व्यापार या व्यंजना रहित चारुत्व—दोनों ही 'ध्वनि' नही कहे जा सकते। जब हम कहते हैं "कल रविवार है।" तो यहाँ व्यंग्यार्थ है 'कल हमें छुट्टी है,' किन्तु केवल व्यंग्यार्थ होने से ही यह वाक्य 'ध्वनि' या उत्तम काव्य का उदाहरण नहीं बन जाता—इसमे सौन्दर्य का होना भी अपेक्षित है।

ध्वनि की उपर्युक्त दो शर्तों में से अधिक महत्त्वपूर्ण कौनसी है—चारुत्व का प्रकाशन या व्यंजना-शक्ति का माध्यम ? स्पष्ट ही यहाँ व्यंजना शक्ति तो प्रकाशन का माध्यम मात्र है, प्रकाश्य तो चारुत्व ही है, अतः उसे ही अधिक महत्त्व मिलना चाहिए। प्रश्न उठता है, फिर ध्वनिकार व्यजना-शक्ति पर इतना बल क्यो देते है ? इसका उत्तर आनन्दवर्द्धनाचार्य ने दिया है—"अनुप्रासादि शब्दगत चारुत्व के हेतु हैं, उपमादि अर्थगत चारुत्व हेतु है ... ...किन्तु ध्वनि इन सबसे भिन्न कोई नया पदार्थ है।"[२२] कहने का तात्पर्य यह है कि जिस चारुत्व का प्रकाशन शब्दालंकारों, अर्थालंकारों, वृत्ति, रीति आदि से नही होता, उसे व्यजना प्रकाशित या व्यक्त करती है। इस प्रकार व्यजना शक्ति का महत्त्व सर्वोत्तम साधन या सर्वाधिक शक्तिशाली साधन के रूप में स्वीकार किया जा सकता है किन्तु फिर भी उसका महत्त्व साध्य—चारुत्व—से न्यून ही माना जायगा। वस्तुतः ध्वनिकार ने स्थान-स्थान पर चारुत्व को महत्ता स्वीकार की है, कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है—

(क) शब्दार्थ के प्रसंग में

"उस **चारुत्वातिशय** विशिष्ट अर्थ के प्रकाशन-रूप प्रयोजन के सपादन में यदि शब्द गौण हो तब तो उस शब्द का प्रयोग दूषित ही होगा, परन्तु ऐसा नहीं है।[२३]

(ख) रस के प्रसंग में

"........अन्यत्र शब्द-विशेषों का जो **चारुत्व** अलग-अलग प्रदर्शित किया है वह भी उनके अर्थ व्यंजकत्व के कारण ही व्यवस्थित होता है........।"[२४]

---

२१. ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत, कारिका १५ का हिन्दी अनुवाद।
२२. हिन्दी ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत, कारिका १।
२३. वही, कारिका १७, पृ० ८७।
२४. वही, तीसरा उद्योत, कारिका १६, पृ० २८६।

(ग) प्रबन्ध के प्रसंग में

"जो प्रबन्ध के **सौन्दर्यातिशय** को चाहता है उसे उन रसो में से किसी एक प्रतिपादनाभिमत रस को ही प्रधानरूप से समाविष्ट करना चाहिए।"[२५]

(घ) ध्वनि भेदों के प्रसंग में

"........व्यंजकत्व पूर्वोक्त **चारुत्व-हेतु** व्यग्य के बिना नही रहता।"[२६]

(ङ) अलंकारों के प्रसंग में

"उसमें कवि की प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलंकार को प्रभावित करती है उसे ही **चारुत्वातिशय** प्राप्त होता है।"[२७]

उपर्युक्त अवतरणों से स्पष्ट है कि ध्वनिकार का प्रतिपादन मुख्यत: 'चारुत्व' को ही लक्ष्य में रखकर किया हुआ है, व्यंजना शक्ति एवं व्यग्यार्थ तो उस चारुत्व के ही विभिन्न हेतुओं में से एक है—अत: ध्वनिमत के विश्लेषण से भी 'चारुत्व' (या 'सौन्दर्य') ही काव्यात्मा पद का अधिकारी सिद्ध होता है।

५.८. वक्रोक्ति

आचार्य कुन्तक ने काव्यात्मा के रूप में 'वक्रोक्ति' को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। 'वक्रोक्ति' की चर्चा कुन्तक से पूर्व भी हो चुकी थी किन्तु उसका स्वरूप इतना व्यापक नही था, जितना कि उसे कुन्तक द्वारा प्राप्त हुआ। वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए कुन्तक ने लिखा है—"प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन-शैली ही वक्रोक्ति है। यह कैसी है? वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति (ही वक्रोक्ति है)। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि-कर्म-कौशल, उसकी भगिमा या शोभा (चारुता), उसके द्वारा (उस पर आश्रित) उक्ति।"[२८] यदि उपर्युक्त पंक्तियों को और अधिक स्पष्ट करे तो संक्षेप मे कह सकते है—

(१) वक्रोक्ति = विचित्र उक्ति
(२) विचित्र = वैदग्ध्यपूर्ण
(३) वैदग्ध्य = कविकर्म-कौशल की शोभा या चारुता।

यहाँ स्पष्ट ही वक्रता, वैचित्र्य, वैदग्ध्य एवं शोभा—इन चारों को परस्पर पर्यायवाची मान लिया गया है। वस्तुत: जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कुन्तक के मत की विवेचना करते हुए स्वीकार किया है—'कुन्तक ने स्थान-स्थान पर वक्र, विचित्र,

---

२५. वही, तीसरा उद्योत, कारिका २१, पृ० ३१३।
२६. वही, तृतीय उद्योत, कारिका ३३, पृ० ३६२।
२७. वही, तृतीय उद्योत, कारिका ३७, पृ० ३६५।
२८. वक्रोक्ति जीवितम् (हिन्दी अनुवाद) प्रथम उन्मेष, कारिका ११, पृ० ५१।

चारु आदि शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग किया है।'[२९] अतः कुन्तक के दृष्टिकोण से प्रत्येक वक्रोक्ति सुन्दर उक्ति है और प्रत्येक सुन्दर उक्ति वक्रोक्ति है। किन्तु यह बात तथ्य रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। वक्रता या वैचित्र्य सौन्दर्य के अनेक साधनों में से एक साधन तो बन सकता है किन्तु वह सर्वत्र ही साध्य—सौन्दर्य—का स्थान ग्रहण नही कर सकता। यही कारण है कि स्वयं आचार्य कुन्तक भी अपने उपर्युक्त मत का निर्वाह सर्वत्र नही कर पाये—अनेक स्थलों पर उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि वक्रोक्ति साधन है, जबकि सौन्दर्य या शोभा उसका साध्य है। उदाहरण के लिए, शब्द और अर्थ की विवेचना करते हुए वे लिखते हैं—

(क) (काव्य में वही अर्थ, अर्थ कहा जाता है) जो अपने स्वभाव से ही सुन्दर और सहृदयों को आनंद देने वाला हो।[३०]

(ख) जहाँ विशेषण के माहात्म्य या प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौन्दर्य प्रस्फुटित होता है, वह विशेषण-वक्रता कहलाती है।[३१]

(ग) "ये शब्द और अर्थ—दोनो ही अलंकार्य हैं तथा ये किसी शोभातिशयकारी अलंकरण से युक्त करने योग्य होते है। ऐसा अलंकरण (जो कि शोभातिशयकारी हो) कौन सा है ? इन दोनो (शब्द और अर्थ) का अलंकरण एक ही है—(वक्रोक्ति)।"[३२]

अस्तु, आचार्य कुन्तक स्वीकार कर लेते है कि काव्य मे सहृदयो को आनन्द देने वाला, प्रतिपादन शैली का लक्ष्य एवं वक्रोक्ति का साध्य सौन्दर्य, शोभा या अतिशय शोभा ही है। अतः वक्रोक्ति की अपेक्षा उसके साध्य सौन्दर्य को ही काव्यात्मा मानना अधिक उचित होगा।

५.६. औचित्य—

आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य' को काव्य का जीवन या प्राण घोषित किया। औचित्य क्या है ? इसका उत्तर आचार्य क्षेमेन्द्र के शब्दों में है—"जो जिसके योग्य हो, अनुरूप हो, आचार्य लोग उसे उचित कहते है। इस उचित का भाव ही 'औचित्य' है।"[३३] दूसरे शब्दो, मे प्रत्येक वस्तु का उचित रूप मे वर्णन ही औचित्य है। इसमें कोई सन्देह नही कि औचित्य के अभाव मे कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं लगती—अतः औचित्य का महत्त्व काव्य में भी है, किन्तु साथ ही यह भी निश्चित है कि केवल औचित्य से ही काव्य में काव्यत्व का संचार नही हो जाता। 'राम दशरथ के पुत्र थे।' 'भारत ने १९४७ में स्वतंत्रता प्राप्त की।'—इन वाक्यों में पूर्ण औचित्य है, किन्तु

---

२९. वही, भूमिका, पृ० ३२।
३०. वक्रोक्ति जीवितम्, प्रथमोन्मेष, कारिका ६ का हिन्दी अनुवाद।
३१. वही, द्वितीय उन्मेष, कारिका १५।
३२. वही, प्रथम उन्मेष, कारिका १०।
३३. औचित्य विचार-चर्चा : अनुवाद—मनोहरलाल गौड, पृ० ३।

फिर भी ये काव्यत्व से शून्य है। फिर इतिहास, नीति, और दशन की पुस्तकों में भी औचित्य की प्रतिष्ठा मिलती है, जब कि वे काव्य-क्षेत्र की सीमा से बाहर पड़ती हैं। वस्तुत: 'औचित्य' काव्य-सौन्दर्य के विभिन्न साधनों में से एक है, वह काव्य का एक पूरक तत्त्व तो है, किन्तु आधारभूत तत्त्व नहीं—यह तथ्य स्वयं क्षेमेन्द्र की ही उक्तियों से प्रमाणित हो जाता है ; देखिये—

(क) "काव्यानुभूति में **चमत्कार-हेतु** और रस के जीवन औचित्य तत्त्व पर विचार करते है।"[३४]

(ख) "अलकार तभी **शोभा बढ़ाने** में समर्थ होते हैं जबकि उनका विन्यास उचित स्थान पर हो।"[३५]

(ग) "औचित्य के बिना न अलकार **रुचिरता** देते है, न गुण।"[३६]

(घ) "प्रतिपाद्य अर्थ के अनुरूप अलकार का प्रयोग हो तो इस औचित्य से काव्य भारती इस तरह **शोभित** होती है जैसे पीन-स्तनों पर पड़े हार से सुन्दरी।"[३७]

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि औचित्य भी काव्य की शोभा, रुचिरता या चारुता के साधक तत्त्वों मे से एक है, उसका साध्य सौन्दर्य है।

५.१०. भारतीय मतों का समन्वय—

साहित्य की आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न मतों के आलोचनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि रस संप्रदाय को छोड़कर अन्य सभी संप्रदायों ने अपने-अपने मत को प्रमुखता देते हुए क्रमशः अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु इसमें उन्हें सफलता नही मिली। वस्तुतः उनकी उक्तियों से ही यह प्रमाणित हो जाता है कि अलकार, रीति, ध्वनि आदि सभी तत्त्व काव्य में सौन्दर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता आदि के उत्पादन के साधन मात्र है—उनका साध्य तो सौन्दर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता आदि का उत्पादन है। वस्तुतः सौन्दर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता आदि शब्द भी एक ही तत्त्व की विभिन्न विशेषताओं के द्योतक है, अतः इन सबके स्थान पर किसी एक सामान्य संज्ञा का प्रयोग करते हुए इनमे समन्वय स्थापित किया जा सकता है। प्रश्न है वह विशेष तत्त्व, या गुण कौनसा है जिसे इन सबके स्थान पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है ? हमारे विचार से जिस वस्तु में हमें आकर्षित करने की क्षमता होती है उसी को हम सुन्दर मानते है, वही हमें चारु प्रतीत होती है और उसी में हमारी

---

३४. औचित्य-विचार-चर्चा : अनुवाद—मनोहरलाल गौड़, पृ० ३।
३५. वही, पृ० ३।
३६. वही, पृ० ४।
३७. वही, पृ० १०।

वृत्तियाँ रमती हैं—अतः सौन्दर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता आदि के स्थान पर केवल 'आकर्षण-शक्ति' का प्रयोग करते हुए कहा जा सकता है कि साहित्य की आत्मा या मूल शक्ति उसकी आकर्षण शक्ति है तथा अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि उसी शक्ति के साधक एवं सहायक तत्त्व हैं। अस्तु, भारतीय दृष्टिकोण से 'आकर्षण-शक्ति' को काव्य की आत्मा माना जा सकता है, किन्तु इसे अन्तिम रूप से स्वीकार करने से पूर्व पाश्चात्य दृष्टिकोण से भी इस प्रश्न पर विचार कर लेना उचित होगा।

●

६
साहित्य की आत्मा या शक्ति :
पाश्चात्य दृष्टिकोण

●

६.१. अनुकृति—

आचार्य अरस्तू ने काव्य के आधारभूत तत्त्वो की चर्चा करते हुए सर्व प्रथम 'अनुकरण' की व्याख्या की है। उनके विचार में महाकाव्य त्रासदी, कामदी, रौद्रस्तोत्र आदि सब सामान्य रूप में अनुकरण के ही विभिन्न प्रकार है।[१] अनुकरण या अनुकृति के आधार पर ही कवि, कवि पद का अधिकारी होता है—न कि छन्दोबद्ध रचना के कारण।[२] काव्य के शेष सभी तत्त्व या तो अनुकरण के विषय हैं या माध्यम।[3] कविता का सृजन एवं आस्वादन भी उन्होंने अनुकरण की ही प्रवृत्ति एवं प्रक्रिया के कारण माना है। इस प्रकार उन्होंने 'अनुकृति' को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया है कि उसे भारतीय शब्दावली मे 'काव्य की आत्मा' कहा जा सकता है। डा० नगेन्द्र ने अरस्तू के इस सिद्धान्त की चर्चा 'काव्यात्मा' शीर्षक के साथ की है, जो उचित ही है।

६.२. 'अनुकृति' : अर्थ एवं स्वरूप—

'अनुकृति' शब्द की विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न प्रकार से व्याख्या करते हुए इसके विभिन्न अर्थ निश्चित किये है। श्री बूचर महोदय के विचार से 'अनुकृति' का

1. "Epic, poetry, tragedy, comedy......all these are, in the most general view of them imitations."—Poetics 1, 1.
2. Poetics 1, 2.
3. "There are, again, other species of poetry which make use of all the means of imitation." 1, 3.
   "Objects of imitation are the actions of men" 1, 3.
4. Poetics 1, 45.
५. 'अरस्तू का काव्य शास्त्र' : डा० नगेन्द्र।

अर्थ है—'सादृश्य-विधान' या 'पुनरुत्पादन'।[६] पाट्स महोदय के अनुसार अनुकृति का अर्थ हैं 'ऐसे प्रभाव का उत्पादन जो कि प्रकृत या मूल रूप के प्रभाव जैसा हो।'[७] एटकिन्स ने इसका अर्थ 'पुनर्मृजन' एवं स्काट जेम्स ने 'कल्पनात्मक पुन-र्निर्माण किया है।'[८] डा० नगेन्द्र ने उपर्युक्त सभी अर्थों पर विचार करने के अनन्तर इसका अर्थ निश्चित किया है—"भावात्मक एवं कल्पनात्मक पुनः सृजन।"[९]

यहाँ सबसे पूर्व यह प्रश्न उठता है कि 'अनुकृति' के उपर्युक्त विभिन्न अर्थो की क्या आवश्यकता है—क्या 'अनुकृति' शब्द अपने आप में स्पष्ट नही है ? हमारे विचार से 'अनुकरण' और 'अनुकृति' शब्द ऐसे पारिभापिक शब्द नही है जो कि व्याख्या की अपेक्षा रखते हो—ये ऐसे सामान्य शब्द है जिनके पर्यायवाची प्रायः सभी प्रमुख भाषाओं में सरलता से मिल सकते है। सामान्यतः 'अनुकरण' या अंग्रेजी के 'Imitate' दोनों का अर्थ है "किसी दूसरे की क्रिया के अनुसार या उसके सदृश कार्य करना" तथा 'अनुकरण' के द्वारा किया गया कार्य ही अनुकृति या 'Imitation' है। अतः जहाँ तक इन शब्दो के अर्थ की बात है, वह पर्याप्त स्पष्ट है, किन्तु फिर भी इस अर्थ से विद्वानो को सतोप न होने का कारण यह प्रतीत होता है कि 'अरस्तू ने 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग उसके अभिधेय अर्थ मे नही किया अपितु उसके लाक्षणिक अर्थ मे किया है, जिससे 'अनुकरण' शब्द काव्य के प्रसग मे अपने अभिधेय अर्थ मे उपयुक्त नही जँचता। अनुकरण मूल कार्य के तद्नुरूप कार्य है—ऐसी स्थिति मे एक कवि के कार्य को देखकर दूसरे कवि द्वारा किया गया तदनुरूप कार्य तो 'अनुकरण' कहा जा सकता है किन्तु प्रकृति एवं मनुष्य के क्रिया-कलापो को शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत करना 'अनुकरण' नही कहा जा सकता। अनुकरण-कर्त्ता मूल कार्य कर्त्ता की चेष्टाओ और उसके माध्यम—दोनो का अनुकरण करता है, जब कि सेनापति का वर्णन करता हुआ कवि न तो सेनापति की भाँति घोड़े पर सवार होता है, न तलवार चलाता है, और न ही युद्ध-भूमि मे प्रवेश करता है, अतः वीर-काव्य के रचियता 'कवि' को सेनापति का अनुकर्त्ता, या उसके काव्य को सेनापति के क्रिया-कलापों की अनुकृति कैसे कहा जा सकता है ? वस्तुतः कविता के प्रसग में 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग अभिधेय अर्थ मे ठीक नही बैठता। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले नाटक के प्रसग में अभिनेताओ की कला के लिए 'अनुकरण' शब्द का प्रयोग हुआ होगा —क्योकि उनके प्रसग मे 'अनुकरण' सर्वथा उपयुक्त रहता है तथा भारतीय नाट्य-शास्त्रों में भी इसका प्रयोग हुआ है—किन्तु आगे चलकर काव्य और

---

६. 'अरस्तू का काव्य शास्त्र' : डा० नगेन्द्र।
७. वही।
८. वही।
९. वही।

अन्य कलाओं के प्रसंग में भी उसका प्रचलन हो गया होगा। यद्यपि उपर्युक्त संभावना को सत्य सिद्ध करने के लिए कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है, किन्तु यूनान में नाट्य-कला की प्राचीन परम्परा और उसके महत्त्व को देखते हुए ऐसा होना असभव नही है। अस्तु, कारण कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि 'अनुकरण' का वाच्यार्थ काव्य के प्रसंग में ठीक नही बैठता, अतः आगे हम इसके 'लक्ष्यार्थ' पर विचार करेगे।

काव्य में जो कुछ वर्णित किया जाता है वह बहुत कुछ प्रकृति एवं जीवन के अनुरूप ही होता है। यदि भौतिक जगत् में सूर्य चमकता है, नक्षत्र टिमटिमाते हैं, बादल गरजते हैं, पहाड़ ऊँचे होते है, नदियाँ बहती हैं,—तो इन सबका काव्य में भी वर्णन इसी रूप में होगा। इसी प्रकार मनुष्य के बाह्य क्रिया-कलापो एवं उसकी आन्तरिक भावनाओं का भी वर्णन एवं चित्रण काव्य में तदनुरूप ही होगा। कवि अपने जीवन में व्यक्तियो, वस्तुओं एवं कार्य-व्यापारों को जिस रूप मे अनुभव करता है, उसी रूप में वह उन्हें काव्य में प्रस्तुत करता है—अतः 'अनुकृति' का लक्ष्यार्थ "अनुरूप वर्णन" लिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। वस्तुतः 'अनुकरण' में अनुकार्य की 'क्रिया' का सादृश्य अपेक्षित है जबकि 'अनुरूप' में क्रिया का नही—उनके रूप या 'प्रतीति का ही सादृश्य अपेक्षित है। कवि भी मूल पात्रो की चेष्टाओं या क्रियाओं का अनुकरण नही करता, अपितु वह भिन्न क्रियाओ—सोचना, व्यक्त करना, लिखना आदि—के माध्यम से उनके स्थिर या गतिशील रूप को प्रस्तुत करता है। मूल पात्रो के क्रिया-कलापों की भी वह पुनरावृत्ति नही करता, अपितु उनके कल्पित या अनुभूत रूप मात्र को भाषा के माध्यम से प्रस्तुत करता है। अतः काव्य के प्रसंग में अरस्तू के 'अनुकरण' का लक्ष्यार्थ "अनुरूप वर्णन" है।

६.३. अनुकृति : काव्यात्मा के रूप में—

'अनुकृति' का अर्थ स्पष्ट कर लेने के अनन्तर हम इस बात पर विचार कर सकते हैं, कि क्या अनुकृति को काव्यात्मा से रूप में स्वीकार किया जा सकता है? क्या 'अनुकृति' का काव्य में इतना महत्त्व है कि उसे काव्य की मूल शक्ति माना जा सके? इसका निर्णय करने के लिए हमें यह देखना चाहिए कि अनुकृति के कारण काव्य में कौन सी क्षमता का अविर्भाव होता है या यों कहिए कि काव्य में काव्यत्व का संचार करने में अनुकृति का योग-दान क्या है? इसके उत्तर में पहली बात तो यह कही जा सकती है कि अनुकृति काव्य की विषय-वस्तु या उसकी स्थूल सामग्री की स्रोत सिद्ध होती है। दूसरे, वह काव्य की विषय-वस्तु के बाह्य या उत्पादक सम्बन्धियों की व्याख्या अधिक प्रस्तुत करती है, स्वयं विषय-वस्तु के किसी स्वतंत्र गुण या क्षमता पर कम प्रकाश डालती है। यदि हम यह कहें कि 'गुड़ का स्वाद गन्ने जैसा है' तो यहाँ हम गुड़ के स्वाद की किसी स्वतंत्र विशेषता पर प्रकाश नहीं डालते, केवल उसका किसी अन्य पदार्थ से सादृश्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं—इसी

प्रकार 'अनुकृति' भी काव्य के किसी स्वतंत्र गुण या उसकी किसी विशेष क्षमता का आख्यान नहीं करती अपितु वह जीवन और काव्य के पारस्परिक सम्बन्धों का आख्यान मात्र करती है। अनुकरण जन्य काव्यगत विशेषता को यदि हम कोई स्वतंत्र नाम देना चाहें तो उसे अधिक से अधिक 'यथातथ्य वर्णन' या 'स्वाभाविक वर्णन' कह सकते हैं। काव्यगत वर्णन जीवन के जितना अधिक अनुरूप होगा—या यों कहिए कि कवि अनुकृति की कला में जितना अधिक सफल होगा, काव्य में उतनी ही अधिक स्वाभाविकता आवेगी—अतः कह सकते हैं कि 'अनुकृति' के कारण काव्य में 'स्वाभावविकता' 'यथातथ्यता' या 'वास्तविकता' (Reality) का संचार होता है। किन्तु क्या 'स्वाभाविकता' को ही काव्य का आधारभूत तत्त्व स्वीकार किया जा सकता है—यह विचारणीय है।

हम नित्य-प्रति जो कुछ देखते है या सुनते है, उसे ज्यों का त्यों वर्णित कर देना बहुत कठिन नही है। यदि अपनी यथातथ्यता, या स्वाभाविकता के कारण ही कोई वर्णन 'काव्य' कहा जा सके तो, फिर हम बाबर, जहाँगीर और हुमायूँ की लिखी हुई डायरियों से लेकर इतिहास की पुस्तकों तक सबको 'काव्य' की संज्ञा दे सकते हैं; किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। जिस प्रकार 'भाषा' से काव्य के माध्यम की समस्या हल हो जाती है, उसी प्रकार 'अनुकृति' से काव्य के 'विषय' का स्रोत मिल जाता है, किन्तु इन सबसे साहित्य के स्थूल शरीर का ही निर्माण होता है, उसमें प्राणों की प्रतिष्ठा के लिए एक गुण और चाहिए। यह गुण वह है जिसके कारण काव्य में आह्लादकता की क्षमता आती है। स्वयं अरस्तू ने भी इस क्षमता का उल्लेख किया है। किन्तु इसे वे 'अनुकृति' की ही प्रतिक्रिया घोषित कर देते है। उनका तर्क है—"सभी व्यक्ति सामान्यतः अनुकृति से आनन्द प्राप्त करते हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रकृत आनन्द प्राप्त होता है, केवल दार्शनिक को ही नहीं, सामान्य व्यक्ति को भी—जिसकी कि ज्ञानार्जन की क्षमता भले ही सीमित हो। किसी चित्र को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसे देखकर वह कुछ ज्ञान प्राप्त करता है, सोचता है और उसे पता लगता है कि अमुक वस्तु क्या है।"[१०] आचार्य अरस्तू के इस कथन से हम यहाँ तक तो सहमत है कि अनुकृति के कारण काव्य में ज्ञानवर्द्धक सामग्री का सन्निवेश होता है तथा उससे पाठक के ज्ञान में अभिवृद्धि भी होती है, किन्तु यह कहना कि काव्य से या चित्र से प्राप्त होने वाला

---

10. "All men, like wise, naturally recieve pleasure from imitation ......And the reason of this is, that to learn is a natural pleasure, not confined to philosophers, but common to all men,......Hence the pleasure they receive from a picture; in viewing it they learn, they infer they discover what every object is;" Poetics; V; Translated by T. Twining, Page 9.

आनन्द ज्ञानार्जन का आनन्द है—ठीक नहीं। यदि ऐसा ही होता तो फिर हम इतिहास, भूगोल और दर्शन की पुस्तकों से काव्य की अपेक्षा अधिक आनन्द प्राप्त करते क्योंकि उनमें ज्ञानवृद्धि की सामग्री काव्य से कही अधिक होती है। फिर सभी कलाओं से ज्ञान की अभिवृद्धि ही हो यह भी संभव नही। जब हम एक परिचित वस्तु का चित्र देखते हैं तो उससे हमारे ज्ञान में कोई अभिवृद्धि नही होती—फिर भी चित्र से आनन्द-प्राप्ति सभव है। अस्तु, काव्यानन्द को ज्ञान-वृद्धि का परिणाम मानते हुए उसे अनुकृति पर आधारित करना उचित नहीं है।

६.४. औचित्य—

रोमी आचार्य होरेस ने काव्य के अधारभूत तत्त्व के रूप में औचित्य का विवेचन किया था। उनके अनुसार जहाँ कवि द्वारा चित्रित वस्तुओं के विभिन्न अंगों में परस्पर उचित अन्वय होना चाहिए वहाँ उसके प्रतिपादन में भी परस्पर संगति होनी चाहिए।[११] औचित्य के अभाव में कोई भी रचना हास्यास्पद हो जाती है। इसी लिए वे उचित और अनुचित का विवेक करने वाली शक्ति को ही साहित्य की मूलाधार घोषित करते हुए लिखते है—"समस्त उत्कृष्ट साहित्य का रहस्य है—सजग विवेक शक्ति।"[१२] वस्तुत: यहाँ विवेक शक्ति से उनका तत्पर्य विवेकजन्य औचित्य से ही है। होरेस महोदय का यह औचित्य सिद्धान्त आचार्य क्षेमेन्द्र के औचित्य से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, जिसकी समीक्षा करते हुए पीछे यह दिखाया जा चुका है कि औचित्य को काव्य की शक्ति के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। स्वयं होरेस महादेय के शब्दों से भी यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य मे औचित्य की अपेक्षा सौन्दर्य या आकर्षण का अधिक महत्त्व है[१३]—औचित्य तो इस सौन्दर्य उत्पत्ति का साधन-मात्र है—अत: इस सम्बन्ध में और अधिक चर्चा करना अनावश्यक है।

६.५. अलंकृति—

अनेक ग्रीक एवं रोमी आचार्यों ने काव्य में विषय की अपेक्षा शैली को अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए अलंकृति को ही काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व स्वीकार किया है। डिमिट्रियस महोदय ने लिखा है कि "प्राय: विषय तो स्वभाव से अनाकर्षक एवं विकर्षक होता है, लेखक के द्वारा ही उसमे दीप्ति आती है।"[१४] यह दीप्ति मुख्यत: शब्दालकारों,

---

११. होरेस : 'काव्य-कला' (हिन्दी अनुवाद), पृ० १।
१२. वही, पृ० १६।
१३. "कविताओ का सुन्दर होना ही पर्याप्त नही, वे आकर्षक भी होनी चाहिए—" वही पृ० ६।
14. "Often the subjcct—matter is naturally unattractive and even repulsive, but a touch of brightness is addcd by the writer."
—On style ; Para 134.

अर्थालंकारों एवं विभिन्न अन्य गुणों के प्रयोग से आती है, किन्तु इनमें सबसे अधिक महत्त्व अलंकारों का माना गया है। इनके विचार से होमर जैसे प्राचीन कवियों ने भी अलकृति के बल पर ही अपने काव्य को आकर्षक एवं प्रभावशाली बनाया था।[१५] इसीलिए अलंकारों का जितना अधिक कुशल चयन होगा, अभिव्यक्ति उतनी ही अधिक सशक्त होगी। ग्रीक आचार्यों द्वारा निरूपित इन अलंकारों के स्वरूप एवं भेदोपभेदों में भारतीय अलंकारों से गहरा साम्य है, अतः भारतीय अलकारो की भाँति इन्हे भी काव्य के आधार-भूत तत्त्व के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता। वस्तुतः स्वयं इन आचार्यों के शब्दों में भी अलंकार काव्य की द्युति, दीप्ति, कान्ति, शोभा या आकर्षण के साधन है—ऐसा इन्ही की विभिन्न उक्तियों से सिद्ध हो जाता है।[१६] अतः यदि हम चाहे तो द्युति, दीप्ति, कान्ति, शोभा आदि के लिए एक ही शब्द 'सौन्दर्य' का प्रयोग करते हुए कह सकते है कि शैली के विभिन्न तत्त्वो का साध्य तथा काव्य का प्रमुख तत्त्व यही है।

६.६. उदात्त—

ग्रीक आचार्य लोंजाइनस ने काव्य के आधार-भूत तत्त्व के रूप मे उदात्त या औदात्य की प्रतिष्ठा की। उनके विचार से उदात्त ही वह तत्त्व है जिसके बल पर बडे-बड़े कवि और गद्यकार स्थायी प्रतिष्ठा और अमर कीर्ति प्राप्त करते हैं।[१७] काव्य के अन्य तत्त्व विचार, भाव, अलकार, शैली आदि सब उदात्त के ही पोषक या साधक हैं।[१८] काव्यगत उदात्त के कारण ही पाठक को काव्यानन्द की उपलब्धि होती है।[१९] इस प्रकार उदात्त उनका आधारभूत सिद्धान्त है जिसे दूसरे शब्दों में हम 'काव्यात्मा' या काव्य की शक्ति भी कह सकते है। आचार्य लोजाइनस के अनन्तर अनेक विद्वानों —मुख्यतः काण्ट, हीगल, ब्रेडले, सैतायन आदि—ने उदात्त की महत्ता स्वीकार करते हुए इसकी अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या की है। इस प्रकार यह पाश्चात्य कला-क्षेत्र का एक प्रमुख सिद्धान्त बन गया है।

उदात्त के विभिन्न अर्थ और उसका स्वरूप—स्वयं लोंजाइनस ने 'उदात्त' को बहु-प्रचलित शब्द मानकर इसका अर्थ अधिक स्पष्ट करने का प्रयास नही किया जिसके कारण परिवर्ती युग मे विभिन्न विद्वानो द्वारा इसके विभिन्न अर्थ प्रचलित हो गये।

---

15. On style, Para 78 to 108.
16. "The more cleverly you choose the figures of speech, the more powerful you can make your language."—Same, Para 26 .
17. "...It is by this (sublime) and this only, that the greatest poets and prose-writers have gained eminence and won themselves a lasting place in the temple of fame." On the sublime—I, Page 272
18. On the sublime, Part VIII.
१९. वही, भाग प्रथम।

शब्द-कोष के अनुसार उदात्त (Sublime) के अर्थ हैं—ऊँचा, उन्नत, ऊपर उठा हुआ, महान आदि ।[२०] काण्ट ने इसी अर्थ को स्वीकार करते हुए लिखा—"उदात्त वह है जो 'पूर्णत महान्' है । 'पूर्णतः महान' से तात्पर्य है जिसमें अतुलनीय महानता हो—या ऐसी महानता हो जिसकी तुलना मे प्रत्येक वस्तु तुच्छ प्रतीत हो ।"[२१] सौन्दर्य और उदात्त के अन्तर को स्पष्ट करने हुए काण्ट ने बताया है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध वस्तु के रूपाकार से है जब कि उदात्त का आधार वस्तु का असीम या अरूप होना है । सौन्दर्य यदि वस्तु का गुण है तो उदात्त उसकी मात्रा है ।" अस्तु, सक्षेप में काण्ट के अनुसार उदात्त का अर्थ है—अद्वितीय महानता। किन्तु महानता या अद्वितीय महानता—अपने आप में एक अनिश्चित गुण है । यदि काव्य में इसकी सत्ता देखें तो प्रश्न उठता है कि महानता किसकी—महान् पात्र, महान् घटना, महान विचार या महान् शैली ? हीगल ने इस महानता का सम्बन्ध अलौकिक सत्ता से स्थापित किया है तो बर्क के विचार से इसका सम्बन्ध ऐसी घटनाओ से है जो कि करुण मिश्रित भय की भावना को उद्दीप्त करे।[२२] इस प्रकार यह भयानक के आलम्बन का गुण सिद्ध हो जाता है । जार्ज सैंतायन ने उदात्त के स्वरूप की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि प्रायः लोग उदात्त और उदात्त के आलम्बन को घुला-मिला देते है ।[२३] यह ठीक है कि उदात्त की अनुभूति त्रास या आतक (Terror) से होती है, किन्तु स्वयं त्रास या आतंक उदात्त नही है।[२४] काव्यगत त्रास की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हम में आत्म-चैतन्य का उद्बोधन होता है, तथा हमारे हृदय मे निर्वेद का सचार होता है ।[२५] इस प्रकार यह निर्वेद की अनुभूति उदात्त की अनुभूति है न कि त्रास का चित्रण मात्र । काव्य में शोक से आनन्द की उपलब्धि का कारण भी यही काव्यगत औदात्य है । निर्वेद की अनुभूति के अतिरिक्त उदात्त के कुछ और लक्षणो पर भी सैंतायन महोदय ने प्रकाश डाला है जो संक्षेप में इस प्रकार है—(१) सौन्दर्य का आलम्बन जहाँ इन्द्रियगोचर होता है वहाँ उदात्त का आलम्बन कोई कार्य-विशेष होता है ।[२५] (२) जहाँ प्रेम हमें प्रवृत्ति की ओर ले जाता

---

२०. आक्सफोर्ड इगलिश डिक्शनैरी ।
21. "We call that sublime which is absolutely great...great beyond all comparisons ..the sublime is that in comparison with which everything else is small."—critic of Judgment, Page 86, 88.
22. 'Western Aesthetics' by Dr. K. C. Pande, Page 271.
23. 'Sense of Beauty' by George Santayna, Page 178.
24. The same, Page 180.
25. "The usual cause of the sublime is here confused...terror makes us withdraw into ourselves, then with the supervening consciousness of safety or indifference comes a rebound and we have that emotion of detachment and liberation in which the sublime really consists."—Sense of Beauty, Page 180.
26. "...What we objectify in beauty is a sensation...in the sublime is an act" : the same, Page 181.

है वहाँ उदात्त हमें निवृत्ति की ओर उन्मुख करता है।[२७] (३) उदात्त की अनुभूति से हम अपनी चिन्ताओं को भूल कर सर्वथा निर्वैयक्तिक बन जाते हैं।[२८] (४) उदात्त का आलम्बन कष्ट-पूर्ण होते हुए भी हम उससे प्रसन्नता की ही अनुभूति प्राप्त करते हैं।[२९] इस प्रकार सैंतायन महोदय ने उदात्त को निर्वेद का आलम्बन सिद्ध किया है। यदि भारतीय रस-सिद्धान्त की शब्दावली में कहें तो उदात्त की अनुभूति शान्तरस की अनुभूति है, क्योंकि उदात्त की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ न्यूनाधिक मात्रा में शान्तरस में भी मिलती है। दूसरे शब्दो मे, जार्ज सैंतायन की व्याख्या के अनुसार उदात्त का अर्थ है—निर्वेद की काव्यात्मक अनुभूति।

उपर्युक्त विश्लेषण से हमें उदात्त के निम्नलिखित अर्थ उपलब्ध होते हैं :—

(क) शब्द-कोष के अनुसार—ऊँचा, उन्नत, महान।

(ख) काण्ट के अनुसार—अद्वितीय महानता।

(ग) हीगल के अनुसार—अध्यात्म तत्त्व (Transcedent)

(घ) बर्क के अनुसार—करुण-मिश्रित भय की भावना उद्दीप्त करने वाली घटना।

(ङ) सैंतायन के अनुसार—निर्वेद की काव्यात्मक अनुभूति।

उदात्त के इन विभिन्न अर्थो मे से लोजाइनस का अभिप्रेत अर्थ कौन सा था—इसका निर्णय करने के लिए हम लोजाइनस की निम्नांकित उक्तियों को आधार रूप में ग्रहण कर सकते है—

(अ) 'उदात्त का अस्तित्व सदैव भाषा की एक विशेष उच्चता एवं उत्कृष्टता में होता है।"[३०]

(आ) "औदात्त्य के पाँच साधनो मे से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहला (विचारों की महानता) है।[३१]

(इ) औदात्य आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है।[३२] एक उदात्त "विचार अपने मूल एव अव्यक्त रूप मे भी प्रायः अपने औदात्य के कारण प्रशंसनीय होता है।"[३३]

---

27. Same, Page 181.
28. Same, Page 184.
29. Same, Page 183.
30. "Sublime consists in a certain loftiness and excellance of language"—On the sublime, Part I.
31. The same, Part 9th.
32. "Sublimity is......the image of greatness of soul" : The same, Part 9th.
33. The same.

(ई) यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि जिनके विचार महान् होंगे उनके शब्द भी औदात्य से परिपूर्ण होंगे ।"[34]

यदि उपर्युक्त अंशों पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें तो प्रथम और द्वितीय अंश में परस्पर विरोध दृष्टिगोचर होगा क्योंकि एक में भाषा को उदात्त का आधार बताया गया है तो दूसरे में विचारों को। किन्तु तीसरे और चौथे अश से इस अन्तर्विरोध का निराकरण हो जाता है, क्योंकि इनसे स्पष्ट हो जाता है कि भाषा का औदात्य विचारो के औदात्य पर निर्भर है और विचारों का औदात्य विचारक की आत्मा के औदात्य का परिणाम है। इस प्रकार लोजाइनस महोदय की धारणाओं का निष्कर्ष है—

औदात्य = आत्मा की महानता > विचारों की महानता > भाषा की महानता ।

यदि हम लेखक की आत्मा को छोड़ दें तो काव्यगत औदात्य से तात्पर्य है— उदात्त विचार या विचारो की महानता। इस दृष्टि से उपर्युक्त मतो मे से काण्ट महोदय का मत—अद्वितीय महानता—ही लोजाइनस महोदय की धारणाओ के सर्वाधिक निकट पड़ता है, जबकि शेष व्याख्याता उदात्त के मूलस्वरूप से बहुत दूर चले जाते है।

६.७. उदात्त की समीक्षा—

उदात्त का अर्थ एव स्वरूप स्पष्ट कर लेने के अनन्तर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या हम उसे काव्य का आधारभूत तत्त्व या उसकी मूल शक्ति के रूप मे स्वीकार कर सकते है ? हमारे विचार से उदात्त काव्य के गुणो मे अभिवृद्धि करने वाला तत्त्व तो है, वह काव्य की महानता मे भी अभिवृद्धि करता है, किन्तु स्वय काव्यत्व का मूलाधार नही है। विचारो की महानता की दृष्टि से दर्शन एव नीतिशास्त्र की पुस्तकें काव्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है जो भले ही काव्यत्व से सर्वथा शून्य ही क्यों न हों। दूसरी ओर महान् विचारो को ही काव्यत्व का आधार मान लेने पर सौन्दर्य, प्रेम, करुणा आदि भावनाओं से ओत-प्रोत बहुत-सी काव्य-रचनाएँ, (महान् विचारो के अभाव मे) काव्य-क्षेत्र से बहिष्कृत हो जायेगी। उस स्थिति मे अवश्य ही बिहारी, देव, घनानन्द जैसे कवियो की रचनाओं के स्थान पर दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द और महात्मा गाधी जैसे महान् विचारको की रचनाओं मे काव्यत्व का अधिवास स्वीकार करना पड़ेगा जो कि ठीक नही। वस्तुतः विचारो की उत्कृष्टता से उत्कृष्ट दर्शन-शास्त्र की तो रचना हो सकती है, किन्तु काव्यत्व का भी वह आधार हो, यह आवश्यक नही। लोजाइनस महोदय ने काव्य के एक अतिरिक्त गुण को—जिसे कि हम अधिक से अधिक काव्य की विषय-वस्तु की एक विशेषता मान

34. The same.

सकते हैं—ही काव्य का आधारभूत तत्त्व सिद्ध करने का प्रयास किया, जिसे सफल नहीं कहा जा सकता ।

यदि थोड़ी देर के लिए परवर्ती विद्वानों की व्याख्याओं को स्वीकार करते हुए काव्यगत उदात्त का आशय 'महान् विचारों' के स्थान पर 'महान् घटनाओं' या 'महान् पात्रों' 'महान् भावो' से भी ले तो भी वह काव्य की आत्मा सिद्ध नही होता, एक ओर इतिहास में महान् घटनाओ और महान् पात्रों की व्याख्या होती है तो दूसरी ओर मनोविज्ञान में महान् भावों की विवेचना होती है—किन्तु ये काव्य की श्रेणी में नहीं आते । इस प्रकार उदात्त प्रत्येक स्थिति में काव्य का एक अतिरिक्त गुण ही सिद्ध होता है, उसे मूलभूत एवं अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकार नही किया जा सकता ।

६.८. कल्पना एवं बिम्ब-विधान—

अंग्रेजी के कवि एव समीक्षक एस० टी० कालरिज महोदय ने काव्य की आत्मा के रूप में कल्पना-शक्ति की प्रतिष्ठा करते हुए लिखा—"कविता क्या है ? यह प्रश्न लगभग वैसा ही है जैसा कि कवि क्या है ? इस प्रश्न के समाधान में ही पहले प्रश्न का उत्तर निहित है ।"[३५] कवि क्या है—इस प्रश्न पर विचार करते हुए वे कवि-कर्म की मीमासा करते है और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कल्पना-शक्ति के बल पर ही कवि कवि कहलाता है । इसी शक्ति को वे कवि-कर्म की आत्मा घोषित करते हुए लिखते है—"अततोगत्वा, विवेक शक्ति काव्यात्मक प्रतिभा का शरीर है, अनुमान शक्ति उसका वस्त्र, आवेग उसका जीवन है और कल्पना-शक्ति ही वह आत्मा है जो कि प्रत्येक (काव्य) मे सर्वत्र होती है ।"[३६] कवि की इस कल्पना-शक्ति की ही अभिव्यक्ति काव्य मे बिम्बो (Images) के रूप में होती है—अस्तु, इस सिद्धान्त के अनुसार कल्पना जन्य बिम्ब ही काव्य की आत्मा माने जाते हैं ।

बिम्ब क्या है ? इसके उत्तर मे सक्षेप में कहा जा मकता है कि काव्य में शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत ऐसा चित्र जो कि किसी प्रकार की ऐन्द्रिकता से सपृक्त हो—बिम्ब है ।"[३७] किन्तु 'चित्र' सदा रेखाओ के माध्यम से ही बनता है, शब्दों के माध्यम से नही, अतः यहाँ 'चित्र' का लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना होगा । चित्र का लक्ष्यार्थ यहाँ इस प्रकार का चित्रण या वर्णन है जिससे कि वर्णित वस्तु के दृष्टिगोचर रूप का आभास हो । इस प्रकार बिम्बो के माध्यम से वर्ण्य विषय के स्थूल रूप, रंगों, आकृति आदि का सम्यक् बोध होता है ।

---

३५. 'बायग्राफिया लिट्रेरिया' : एस० टी० कालरिज, चेप्टर १४ ।

36. "Finally, good sense is the body of poetic genious, Fancy its drapery, Motion its life and Imagination the soul that is everywhere and ın each, and forms all into one graceful and intelligent whole". --Biographia literaria II, Page 13.

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या प्रत्येक बिम्ब काव्यत्व की क्षमता से युक्त माना जा सकता है ? इसका उत्तर प्रायः निषेधात्मक दिया गया है। स्वयं कालरिज महोदय के विचार से केवल वे ही बिम्ब काव्यात्मकता से युक्त माने जा सकते हैं जो कि भावात्मक हो।[३८] परवर्ती आलोचकों ने भी काव्यात्मक बिम्ब के लिए अनेक गुण आवश्यक माने है। जैसा कि श्री लेविस महोदय ने प्रतिपादित किया है केवल वे ही बिम्ब काव्य का रूप धारण कर सकते है जिनमें नवीनता, सघनता, उत्तेजन-क्षमता एवं औचित्य हो।[३९] ऐसी स्थिति में बिम्ब को ही काव्य का आधारभूत तत्त्व नहीं माना जा सकता। उसे हम काव्य के विभिन्न साधनो मे से एक मान सकते हैं, किन्तु वही काव्य का सर्वस्व नही है। उदाहरण के लिए बिहारी के निम्नांकित दोहे में बिम्ब-विधान तो मिलता है, किन्तु इसी से वह उत्कृष्ट काव्य का नमूना नहीं कहा जा सकता—

इत आवति चलि जाति उत, चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सैं रहै लगी उसासनु साथ॥

यहाँ श्वासों के झूले पर झूलती हुई वियोगिनी का वर्णन बिम्बरूप में प्रस्तुत किया गया है किन्तु उसमे उस रमणीयता का अभाव है, जिससे कि वह पाठक के हृदय को काव्यानन्द प्रदान कर पाता।

अस्तु, कल्पना-शक्ति एव तज्जन्य बिम्ब-विधान को काव्य का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हुए भी उसे हम काव्य की आत्मा या साहित्य की शक्ति के रूप मे मान्यता नहीं दे सकते।

६.६. सौन्दर्य—

पाश्चात्य कला-मीमासकों ने कलाओ को मुख्यतः दो वर्गो—(१) ललित कला और (२) उपयोगी कला (या शिल्प), मे विभाजित करते हुए ललित कलाओ का प्रमुख तत्त्व सौन्दर्य को माना है।[४०] उनके विचार से ललित कलाओं की सृष्टि मुख्यतः सौन्दर्य के लक्ष्य से होती है जब कि उपयोगी कलाओं या शिल्प का लक्ष्य उपयोगिता होता है। विभिन्न ललित कलाओं मे सौन्दर्य की सृष्टि विभिन्न माध्यमों से होती है, जैसे कि संगीत मे ध्वनि के माध्यम से, चित्र मे रेखाओं के माध्यम से एवं काव्य में भाषा के माध्यम से। अन्य ललित कलाओ की भाँति काव्य-कला का

37. "...the poetic image is a pictur: in words touched with some sensuous quality"—The Poetic Image : C. D. Lewis, Page 19.
38. "Images become proof of original genious only so far as they are modified by a predominant passion".
—Biographia literaria, Chapter 15.
39. The poetic Image : C. D. Lewis, Page 40.
40. Principles of Art : By R. G. Collingwood, Page 37.

भी सर्वोत्कृष्ट तत्त्व सौन्दर्य ही है जिसके अभाव में काव्य काव्य नही कहा जा सकता। कला और सौन्दर्य के इसी सम्बन्ध को स्वीकार करते हुए अठारहवी शती मे एक नया विषय स्थापित किया गया जिसे 'सौन्दर्य-शास्त्र' (Aesthetics) कहते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र की परिभाषा करते हुए श्री बोसांके महोदय ने लिखा है कि 'सौन्दर्य-शास्त्र का अर्थ है सौन्दर्य का दर्शन' किन्तु सौन्दर्य-शास्त्र मे सौन्दर्य के प्रतिनिधि के रूप मे ललित कलाओ को स्वीकार किया जाता है।[४१] श्री आब्सार्न महोदय के विचार से सौन्दर्य-शास्त्र मुख्यतः कलाकृतियो के प्रमुख लक्षण सौन्दर्य की ही तर्क पूर्ण व्याख्याओं से सम्बन्धित है।[४२] वस्तुतः सौन्दर्य-शास्त्र के प्रायः सभी विद्वान, जिनकी कि सख्या सहस्राधिक है, सौन्दर्य को ही कला का सर्वस्व मानकर उसकी विवेचना में प्रवृत्त हुए है। अस्तु, सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से सभी ललित कलाओं—जिनमे काव्य भी सम्मिलित है—का आधारभूत तत्त्व सौन्दर्य ही है जिसे हम दूसरी शब्दावली में काव्य की आत्मा या साहित्य की शक्ति भी कह सकते है।

६.१०. 'सौन्दर्य' का अर्थ—

'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग यदि हम सामान्य अर्थ में करे तो इसका सम्बन्ध वस्तुओं के एक विशेष गुण से है जिसका बोध चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से होता है। जिस प्रकार मीठे और कड़वे का स्वादेन्द्रिय से, सुगन्ध और दुर्गन्ध का घ्राणेन्द्रिय से, कोमल और कठोर का स्पर्शेन्द्रिय से सम्बन्ध है, वैसे ही सुन्दर और असुन्दर का चक्षुरिन्द्रिय से सम्बन्ध है। जब हम किसी व्यक्ति, पदार्थ या दृश्य को देखकर उनके प्रति आकर्षण या विकर्षण का अनुभव करते है तो उन्हे क्रमश सुन्दर या असुन्दर कहते है। जब दोनो मे से कोई भी अनुभूति नही होती तो ऐसे पदार्थो को न सुन्दर कहते है और न ही असुन्दर—अपितु उन्हे साधारण या सामान्य कहते है। इस प्रकार सौन्दर्य वस्तुओ का वह आकर्षण है जिसका अनुभव हम चक्षुरिन्द्रिय के माध्यम से करते है किन्तु कई बार हम 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग ऐसी विशेषताओ के लिए भी करते है जिनका बोध हम चक्षुरिन्द्रिय से नही, किसी अन्य इन्द्रिय के माध्यम से करते है ; जैसे—'तुम बहुत सुन्दर गाते हो'। ऐसे प्रसगो मे सौन्दर्य का प्रयोग वाच्यार्थ मे न होकर लक्ष्यार्थ मे होता है। लक्षणा शक्ति के द्वारा यहाँ सौन्दर्य का अर्थ प्राप्त करते है—"मन को आकर्षित करने वाला"। इसी प्रकार विभिन्न कलाओ—सगीत, काव्य आदि के प्रसगों मे भी हम सौन्दर्य का प्रयोग इसी लाक्षणिक अर्थ मे करते है। जब हम

---

41. "Aesthetic means the philosophy of beautiful...Fine art may be accepted,...as the chief, if not the sole representative of the world of beauty." —History of Aesthetics ; Bosanquet Page 3.
42. 'It (aesthetics) is concerned logically to elucidate the notion of beauty as the distinguishing feature of works of art."
—Aesthetics and Criticism By Obsorne, Page 24.

एक दीन-हीन दरिद्र बुढ़िया के चित्र को या करुण भावों की अभिव्यक्ति को सुन्दर कहते हैं तो वहाँ निश्चित ही सौन्दर्य का वाच्यार्थ बाधित हो जाता है, उसका लक्ष्यार्थ ही यहाँ ठीक बैठता है। अस्तु, वास्तुकला, मूर्त्तिकला, चित्रकला, नृत्यकला आदि में 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग भले ही अभिधेयात्मक हो किन्तु काव्य के प्रसंग मे उसका प्रयोग लक्ष्यार्थ मे ही होता है, यह दूसरी बात है कि काव्य के अन्तर्गत भी कई स्थूल दृश्यों, पदार्थो एवं व्यक्तियो के रूप-चित्रण के प्रसग में इसका प्रयोग अभिधेयार्थ में भी होता है, परन्तु काव्य का सौन्दर्य सुन्दर विषयो के अपने रूप में नही अपितु उनके वर्णन की विशेषता मे निहित है, अतः सौन्दर्य का लक्ष्यार्थ ही उस पर अधिक लागू होता है।

जब हम किसी शास्त्रीय या वैज्ञानिक विवेचन में पारिभाषिक शब्द के रूप किसी लाक्षणिक प्रयोग को स्वीकार कर लेते है तो उससे हमारे विवेचन का दोषपूर्ण एवं असंगत हो जाना स्वाभाविक है। यदि हम 'मूर्ख' का शास्त्रीय विवेचन करते समय 'गर्दभ' का प्रयोग करते हुए, उसके गुणो का आख्यान करने लगे तो इससे निश्चित ही हमारा विवेचन दोष-पूर्ण हो जायगा। अतः 'सौन्दर्य' के स्थान पर भी हमें किसी ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहिए जिसका वाच्यार्थ सौन्दर्य के लक्ष्यार्थ को व्यक्त करता हो। सौन्दर्य का लक्ष्यार्थ है—मन को आकर्षित करने की क्षमता तथा सुन्दर का अर्थ है जिसमे यह क्षमता हो। ऐसी स्थिति में यदि हम दोनो के लिए क्रमशः आकर्षण एवं आकर्षक का प्रयोग करते हुए आकर्षण शक्ति को काव्य की मूल शक्ति माने तो अनुचित नही होगा। आकर्षण-शक्ति के बल पर ही विभिन्न कलाएँ एव काव्य-कला हमें आकर्षित, प्रभावित एव आह्लादित करती हैं। वस्तुत. आकर्षक वस्तु का सान्निध्य, उपभोग एव सेवन ही हमारे आह्लाद का कारण होता है। अतः काव्य में आनन्द देने की क्षमता भी उसकी अन्तर्निहित आकर्षण-शक्ति का ही दूसरा नाम है।

अस्तु, 'सौन्दर्य' के स्थान पर 'आकर्षण' का प्रयोग करते हुए कहा जा सकता है कि साहित्य की आत्मा 'आकर्षण-शक्ति' है। पीछे भारतीय मतो के अनुशीलन से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। अतः 'आकर्षण-शक्ति' सम्बन्धी निष्कर्ष को भारतीय काव्य-शास्त्र एवं पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र—दोनो का समर्थन प्राप्त हो जाता है। इसी आधार पर आगे हम 'आकर्षण-शक्ति' सिद्धान्त की स्थापना करते हुए उसकी विस्तृत व्याख्या का प्रयास करेगे। किन्तु इससे पूर्व हम कुछ उन सिद्धान्तो से समन्वय स्थापित कर लेना चाहते है जो कि आकर्षण शक्ति को नही मानते। अगले अध्याय मे पहले यही किया जायगा।

७

भारतीय एवं पाश्चात्य
सिद्धान्तों का समन्वय

●

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि अधिकांश भारतीय काव्य-संप्रदाय एवं पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्री प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सौन्दर्य या आकर्षण-शक्ति को साहित्य की आत्मा के रूप में स्वीकार कर लेते है किन्तु कुछ सिद्धान्त—जिनमे रस, अनुकृति, उदात्त, कल्पना आदि उल्लेखनीय है—ऐसे है जो आकर्षण शक्ति के सम्बन्ध में मौन है। हमारे विचार से इन सिद्धान्तो का भी आकर्षण शक्ति सम्बन्धी निष्कर्ष से समन्वय स्थापित किया जा सकता है क्योकि काव्य में रस का आधार एव अनुकृति, उदात्त, कल्पना आदि का लक्ष्य अन्तत: सौन्दर्य या आकर्षण-शक्ति की प्रतिष्ठा करना ही है। अत: इस सम्बन्ध में एक समन्वयात्मक प्रयास यहाँ किया जाय तो अनुचित नहीं होगा।

७.१. रस सिद्धान्त और आकर्षण—

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, हमारे विचार से रस काव्यगत तत्त्व न होकर काव्य का परिणाम है। काव्यगत सौन्दर्य के आस्वादन से पाठक को जो अनुभूति प्राप्त होती है, उसी को 'रस' कहा जाता है। इस दृष्टि से काव्य-सौन्दर्य या काव्याकर्षण की अनुभूति को 'रस' कहा जा सकता है। रस-सिद्धान्त के अनेक आचार्यो ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है ; देखिये—

(१) **आचार्य अभिनव गुप्त**—"शब्द समर्प्यमाण-हृदय सवाद सुन्दर विभावानुभाव समुदित···रसनीयो रस:"[१] (ध्वन्यालोक) अर्थात् शब्दो मे प्रस्तुत एव हृदय को **सुन्दर** रूप मे सवेदित होने वाले विभावानुभावो से उदित··· रसनीय (अनुभूति ही) रस है।

---

१. 'काव्य-दर्पण' (भूमिका) : रामदहिन मिश्र, पृ० ५७ पर उद्धृत।

(२) **पं० जगन्नाथ**—"इस प्रकार·······रस **रमणीयता** का प्रतिपादक है इसमें कोई विवाद नही।" (हिन्दी अनुवाद)[२]

(३) **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**—"सुन्दर और कुरूप—काव्य में बस ये ही दो पक्ष है।·······शुद्ध काव्य-क्षेत्र मे न कोई बात भली कही जाती है न बुरी···सब बातें केवल दो रूपो मे दिखाई जाती है—सुन्दर और असुन्दर।"[३] "कविता केवल वस्तुओं के ही रग-रूप के **सौन्दर्य** की छटा नही दिखाती प्रत्युत कर्म और मनोवृत्ति के **सौन्दर्य** के भी अत्यन्त मार्मिक दृश्य सामने रखती है।"[४] "अब प्रकृति के नाना रूपों पर आइये। ....(प्रकृति की) **रमणीयता** मे हमारा मन रमा रहता है उस समय स्वार्थमय जीवन की शुष्कता और विरसता से हमारा मन कितनी दूर रहता है, यह **रसदशा** नही तो और क्या है?"[५]

(४) **आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी**—"इसी सौन्दर्य-सवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में 'रस' कहते हैं।"[६]

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि रस-सिद्धान्त के विभिन्न आचार्यो ने सौन्दर्य और रमणीयता की अनुभूति को ही रस-दशा माना है और यदि हम सौन्दर्य और रमणीयता के स्थान पर 'आकर्षण' शब्द का प्रयोग करे तो कह सकते है कि काव्य जन्य आकर्षण की अनुभूति ही रस या आनन्द है।

७.२. अनुकृति सिद्धान्त और आकर्षण—

जैसा कि अनुकृति सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए पीछे स्पष्ट किया गया था, अनुकृति को काव्य की आत्मा नही माना जा सकता। अनुकृति सिद्धान्त मूलतः जगत् के बाह्य उपादानों के साथ काव्य-सामग्री के सम्बन्ध की ही व्याख्या करता है, वह काव्य-सामग्री के उस विशिष्ट तत्त्व को स्पष्ट नही करता जो कि अनुकार्य से पृथक है। सुन्दर पदार्थो की अनुकृति से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होने की बात तो अनुकृति सिद्धान्त से स्पष्ट हो सकती है, किन्तु कुरूप पदार्थो की भी अनुकृति से काव्य में 'आह्लादकता' की क्षमता कैसे आ जाती है, इसका उत्तर अनुकृति सिद्धान्त नही दे पाता। अतः इस सम्बन्ध में हमें स्वतन्त्र दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए।

'अनुकृति' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते समय पीछे कहा गया था कि काव्य के प्रसंग में अनुकृति का अर्थ है—'अनुरूप वर्णन' या बाह्य जगत् के अनुरूप वर्णन। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि कवि अपने काव्य में यह अनुरूपता या सादृश्य किस

---

२. भारतीय काव्य-शास्त्र की परपरा : डा० नगेन्द्र, पृ० ३७४।
३. चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० १६७।
४. चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ० १६६।
५. भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा, पृ० ४७८।
६. वही, पृ० ५९६।

प्रकार लाता है ? क्या वह वर्णन करते समय प्रत्येक वर्ण्य का अवलोकन साथ-साथ करता चलता है ? यदि ऐसा ही है तो फिर वह प्राचीन कथानको का या पूर्व घटित ऐतिहासिक घटनाओ का अवलोकन किस प्रकार कर पाता है ? इन प्रश्नों के उत्तर में हम कह सकते है कि कवि वर्ण्य और वर्ण्यमान मे अनुरूपता लाने के लिए अपनी स्मृतियो, अनुभूतियो एव कल्पना-शक्ति को माध्यम बनाता है अर्थात् वह जिस दृश्य, घटना या पात्र का वर्णन अपने काव्य मे करता है उसे वर्णन के समय अपने चक्षुओं के सामने नही रखता—यदि वर्णन के समय वे उसके सामने उपस्थित भी हों तो भी वह अपनी दृष्टि को वहाँ से हटा लेता है, अन्यथा वह काव्य-रचना मे सफल नही हो सकेगा। वस्तुतः उसकी स्मृतियाँ, अनुभूतियाँ और कल्पना-शक्ति उसे (कवि को) बाह्य जगत् का जो रूप प्रदान करती है उन्ही के अनुरूप वह काव्य मे वर्णन कर पाता है—अतः कहना चाहिए कि कवि की अनुरूपता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्वय कवि की ही स्मृतियों, अनुभूतियो और कल्पना-शक्ति के द्वारा प्रस्तुत रूपो से है; बाह्य जगत के रूपों से उसका सम्बन्ध अप्रत्यक्ष है, स्मृतियों आदि के सम्बन्ध से है।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है—क्या कवि स्मृतियों, अनुभूतियो आदि से प्राप्त सभी रूपों को काव्य में स्थान दे देता है या उनमें से कुछ का चुनाव करता है ? यदि हम यह स्वीकार करे कि वह अपनी स्मृतियों, अनुभूतियो आदि के माध्यम से प्राप्त होने वाले सभी रूपो को काव्य में प्रस्तुत कर देता है तो यह ठीक नही होगा। एक कवि के जीवन मे प्रतिदिन न जाने कितनी बाते होती है, जिन सबको काव्य मे न तो स्थान दिया जा सकता है और न ही दिया जाना ठीक है। ऐसी स्थिति में कवि केवल मार्मिक अनुभूतियों, मधुर स्मृतियो एव मीठी या आकर्षक कल्पनाओ को ही अपने काव्य में स्थान देता है तथा उसकी स्मृतियो का माधुर्य, उसकी अनुभूतियों की मार्मिकता और उसकी कल्पना की आकर्षण शक्ति ही काव्य में उस माधुर्य का सचार करती है जिसके आस्वादन से पाठक आह्लादित या रस-विभोर हो जाता है। यहाँ मधुर, माधुर्य आदि शब्द लाक्षणिक प्रयोग है—अत. यदि अभिधा मे कहे तो स्मृति, अनुभूति या कल्पना से सम्बद्ध जो रूप कवि को आकर्षित करते है उन्ही के अनुरूप वह काव्य मे वर्णन करता है—अतः आकर्षक रूपो की आकर्षक अनुकृति ही काव्य है। प्रत्येक रूप की अनुकृति काव्य नही बन सकेगी, आचार्य दडी के शब्दो मे वह अधिक से अधिक 'वार्ता' हो सकेगी, काव्यत्व का सचार उसमें नही हो सकेगा।

अस्तु हम अनुकृति सिद्धान्त का आकर्षण सिद्धान्त से समन्वय करते हुए कह सकते है कि काव्य की आत्मा अनुकृति नही—आकर्षक अनुकृति है।

७.३. उदात्त सिद्धान्त और आकर्षण—

'उदात्त' का अर्थ स्पष्ट करते हुए पीछे कहा गया था—'महानता' या विचारों की महानता' ही काव्यगत उदात्त है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया था

कि केवल विचारों की महानता से या किसी अन्य प्रकार की—जैसे पात्र के चरित्र की महानता, घटना की महत्ता आदि—महानता से ही काव्य में आह्लादकता नहीं आ सकती। यदि महानता को ही हम काव्य का प्राण मान लें तो फिर दर्शन और काव्य में कोई अन्तर नही रह जायगा। वस्तुतः काव्य में उदात्त विचारो एवं उदात्त पात्रों को भी इस ढग से प्रस्तुत किया जाता है कि वे केवल हमारे मस्तिष्क को ही प्रभावित करके न रह जायँ अपितु वे हमारे हृदय को भी आर्कषित करे। कई बार दार्शनिक और कवि एक ही सत्य या एक ही उदात्त विचार का प्रतिपादन करते है किन्तु दोनों के प्रस्तुतीकरण में अन्तर होता है। भारतीय दार्शनिकों ने भौतिक जीवन की नश्वरता का प्रतिपादन बार-बार स्पष्ट शब्दो में किया है, किन्तु वह सर्व-साधारण को आर्कषित एव प्रभावित नही कर पाता, जब कि इसी विचार को कबीर काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

"माली आवत देखि कर कलियाँ करे पुकार।
फूले-फूले चुनि लिये कालि हमारी बार।"

इसी प्रकार एक और उदाहरण लीजिए, जिसमें लोभ की निन्दा की गई है—

"माखी गुड़ में गडि रही पख रही लपटाय।
ताली पीटे सिर धुनै मीठै बोई माय॥"

अवश्य ही उपर्युक्त दोनो पद्यों मे उदात्त विचारो का अस्तित्व है किन्तु उनकी काव्यात्मकता का आधार विचारो का औदात्य नही अपितु उनके प्रस्तुतीकरण का आकर्षक ढग है—यदि इनका यह ढग आकर्षक न होता तो विचार चाहे कितना ही उदात्त क्यो न होता—जब तक कि वह किसी न किसी प्रकार आकर्षक रूप प्राप्त न कर लेता—वह 'काव्य' सज्ञा से भूषित नही हो पाता। अतः कहना चहिए कि उदात्त विचार आकर्षक रूप में प्रस्तुत होने पर ही काव्य की श्रेणी मे आ पाता है—अन्यथा नहीं।

७.४. बिम्ब सिद्धान्त और आकर्षण—

बिम्ब (Imagery) सिद्धान्त का पीछे विश्लेषण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि केवल बिम्ब को या प्रत्येक बिम्ब को काव्य का आधारभूत तत्त्व नही माना जा सकता। इसमे कोई सदेह नही कि कवि कई बार अपनी विषय-वस्तु का इस भाँति वर्णन करता है कि जिससे हमें वस्तु की अनुभूति बिम्ब रूप में होती है, किन्तु प्रश्न यह है कि इससे काव्यत्व की सिद्धि में कहाँ तक योग मिलता है ? क्या सभी बिम्ब काव्यत्व के साधक सिद्ध होते हैं ? इसका उत्तर स्वयं बिम्ब-सिद्धान्त के अनुयायियों ने ही निषेधात्मक दिया है। इस सिद्धान्त के सबसे बड़े समर्थक कालरिज महोदय ने भी स्वीकार किया है—"(कवि की) मौलिक प्रतिभा का प्रमाण केवल उन्हीं

बिम्बों से मिलता है जो कि भावावेग की प्रबलता के द्वारा रूपायित हों।"[७] इसी प्रकार श्री लेविस महोदय ने भी बिम्ब की परिभाषा करते हुए उसका किसी ऐन्द्रियक गुण से युक्त होना आवश्यक माना है।[८] प्रश्न यह है कि काव्यात्मक बिम्ब के लिए भावात्मकता या ऐन्द्रिकता का स्पर्श आवश्यक क्यो माना गया है ? इस लिए कि अन्यथा उसमें आह्लादकता की क्षमता नही आ पावेगी। बिम्बो मे आह्लादकता की क्षमता इसी भावात्मक या ऐन्द्रिक स्पर्श से आती है। किन्तु जैसा कि हमने पीछे रस-सिद्धान्त का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया था, कवि और काव्य से सम्बन्धित भाव अहं से शून्य होते है अतः उन्हें आकर्षण कहना उचित है—अतः काव्यात्मक बिम्बों के प्रसग मे भी भाव एवं ऐन्द्रिकता के स्थान पर 'आकर्षण' का प्रयोग करते हुए कहा जा सकता है कि आकर्षण युक्त या आकर्षक बिम्बों के द्वारा ही काव्य की सृष्टि होती है—या यों कहिए कि प्रत्येक प्रकार के बिम्ब नही, आकर्षण की क्षमता से युक्त बिम्ब ही काव्य-सृष्टि में सहायक सिद्ध होते है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रस, अनुकृति, उदात्त एव कल्पना सम्बन्धी मत भी अन्ततः आकर्षण-शक्ति सम्बन्धी निष्कर्ष को स्वीकार कर लेते है। रस यदि आकर्षण शक्ति का कार्य या परिणाम है तो शेष सभी तत्त्व—अलकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अनुकृति, उदात्त, बिम्ब आदि—आकर्षण-शक्ति के साधन है। जिस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनो—रूप-रग, वेश-भूषा, चेष्टाओं, प्रलोभन आदि—का उपयोग कर सकता है वैसे ही साहित्यकार भी अपनी रचना मे साहित्यिकता या आकर्षण शक्ति का सचार करने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों एवं विधियो का व्यवहार कर सकता है, किन्तु अन्ततः उसका लक्ष्य अपनी रचना को आकर्षण-शक्ति से युक्त बनाना होता है। अस्तु, उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणो से साहित्य की आत्मा के रूप में आकर्षण-शक्ति को स्वीकार किया जा सकता है।

यह आकर्षण-शक्ति न केवल साहित्य मे अपितु विश्व के सभी क्षेत्रो में विभिन्न रूपो मे—गुरुत्वाकर्षण शक्ति, चुम्बक शक्ति, विद्युत् शक्ति, यौनाकर्षण, प्रेम, स्नेह आदि के रूप मे—प्रतिष्ठित है तथा इसी के बल पर ससार की सारी क्रियाएँ सपादित होती है। अत. साहित्य की आकर्षण-शक्ति के स्वरूप को समझने के लिए हमें उसके इस व्यापक रूप को भली-भाँति समझ लेना चाहिए। आगे आकर्षण-शक्ति के इसी व्यापक रूप एव उसकी विभिन्न प्रवृत्तियो की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की स्थापना की जायगी।

---

7. "Images become proofs of original genious only so far as they are modified by a predominant passion."
—Biographia Literaria, Chapter 15.
8. "The poetic limage is a picture in words touched with some sensuous qualıty, C. D. Lewis Page, 19.

८

आकर्षण-शक्ति-सिद्धान्त
और
उसकी सामान्य प्रवृत्तियाँ

●

वैज्ञानिक शक्ति-वाद या शक्ति सिद्धान्त का प्रारंभिक परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है तथा यह भी पीछे बताया जा चुका है कि हम इसी सिद्धान्त के आधार पर साहित्य की शक्ति की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करना चाहते है । इसी उद्देश्य से हमने शक्ति-सिद्धान्त और शक्ति के विभिन्न रूपो का अध्ययन आरभ किया था किन्तु इसी बीच हमें यह अनुभव हुआ कि शक्ति-सिद्धान्त को अभी और अधिक विकसित करते हुए इसे आकर्पण-शक्ति सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है क्योंकि शक्ति के जितने भी भौतिक, दैहिक एवं मानसिक रूप है उन सभी में आकर्षण की प्रवृत्ति मिलती है । वस्तुत: शक्ति सर्वत्र आकर्पण-विकर्पण की प्रक्रिया के रूप में ही कार्य करती है—अत: जब तक हम इस प्रक्रिया के सम्बन्ध मे कुछ सामान्य नियम निर्धारित न करलें तब तक न तो शक्ति की कार्य-प्रणाली को ही समझा जा सकता है और न ही उसके विभिन्न रूपों की स्पष्ट व्याख्या की जा सकती है । अत: हम भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि प्रमुख विपयो के आधार पर शक्ति के विभिन्न रूपों—गुरुत्वाकर्षण शक्ति, चुम्बक शक्ति, विद्युत् शक्ति, अणु-शक्ति, यौनाकर्षण शक्ति, मानसिक शक्ति आदि का अध्ययन करते हुए उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने का प्रयास करेंगे तथा इस नये अनुसंधान को हम 'आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त' की संज्ञा देते हुए इसे शक्ति सिद्धान्त के पूरक के रूप में—विरोधी रूप में नहीं—प्रस्तुत करेंगे क्योंकि आकर्षण सिद्धान्त शक्ति सिद्धान्त की सभी मान्यताओं को स्वीकार करता हुआ उन्ही के आधार पर आगे बढ़ता है । शक्ति-सिद्धान्त की आधारभूत मान्यताएँ संक्षेप में ये है—

(क) शक्ति अनन्त, अक्षय और अमर है ।

(ख) सृष्टि के सभी क्रिया-कलाप शक्ति के ही विभिन्न रूपों द्वारा संपादित होते है।

(ग) द्रव्य के प्रत्येक अणु में शक्ति विद्यमान है तथा द्रव्य को शक्ति में और शक्ति को द्रव्य में परिणत किया जा सकता है।

आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त उपर्युक्त मान्यताओ के साथ निम्नांकित नई मान्यताएँ और प्रस्तुत करता है—

(१) शक्ति सदा आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है।

(२) शक्ति का संगठन त्रिगुणात्मक तत्त्वों के रूप में होता है जिन्हें सामान्यतः धनात्मक (Positive) ऋणात्मक (Negative) एवं उभयात्मक (Neutral) की संज्ञा दी जाती है।

(३) शक्ति के धनात्मक जाति और ऋणात्मक जाति के तत्त्वो में परस्पर आकर्षण रहना है जब कि स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है।

(४) शक्ति की दो अवस्थाएँ होती है—जागृति एव सुपुप्ति। जागृत अवस्था में शक्ति कार्य करती है जब कि सुपुप्त अवस्था मे वह निष्क्रिय हो जाती है। धनात्मक और ऋणात्मक जाति के तत्त्वो में परस्पर साम्य एव सतुलन होने पर शक्ति सुपुप्त रहती है जब कि उनका साम्य एवं सतुलन भंग हो जाने पर वह उद्दीप्त होकर गतिशील हो जाती है।

(५) सक्रिय अवस्था में शक्ति या आकर्षण शक्ति चार प्रक्रियाओं के रूप में अपना कार्य सपादित करती है; वे चार प्रक्रियाएँ ये है—(१) सपर्क-स्थापना या सयोजन (२) सप्रेषण (३) द्रवण और (४) अभिव्यक्ति।

(६) आकर्षण शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों मे कार्य करती है; एक स्तर पर कार्य करने वाला रूप-विशेष दूसरे स्तर पर प्रायः निष्क्रिय हो जाता है। अतः स्तर परिवर्तन के साथ-साथ उसके अनुरूप शक्ति का रूप-परिवर्तन भी हो जाता है।

(७) आकर्षण-शक्ति सदा वक्र एवं चक्राकार गति से आवर्त्तन-परिवर्तन के रूप मे आगे बढ़ती है।

(८) शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ओर, वैषम्य से साम्य की ओर तथा असंतुलन से संतुलन की ओर आगे बढ़ना होता है।

आकर्षण-शक्ति की उपर्युक्त आठ विशेषताएँ या प्रवृतियाँ भौतिक विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान एवं साहित्य क्षेत्र तक की सभी प्रकार की शक्तियों में दृष्टिगोचर होती है, अतः साहित्य में आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने से पूर्व हम यहाँ अन्य क्षेत्रों के आधार पर इस सिद्धान्त की स्थापना एवं व्याख्या करने का प्रयास करेंगे।

आकर्षण-शक्ति की आठ सामान्य प्रवृत्तियाँ

८.१. शक्ति का सक्रिय रूप : आकर्षण-विकर्षण—

शक्ति सर्वत्र आकर्षण-विकर्षण के रूप में ही कार्य करती है—यह दूसरी बात है कि शक्ति के रूप की स्थूलता या सूक्ष्मता के अनुसार ही आकर्षण-विकर्षण की क्रिया का रूप भी स्थूल या सूक्ष्म होता है। स्थूल रूप में इसी आकर्षण-विकर्षण को हम 'खींचना' और 'फेंकना' कह सकते है तो सूक्ष्म रूप मे वह प्रेम और घृणा का रूप ले सकता है। भौतिक विज्ञान में शक्ति के प्रतिनिधि रूप गुरुत्वाकर्षण शक्ति, चुम्बक शक्ति, विद्युत शक्ति, आणविक शक्ति है—इन सब में आकर्षण-विकर्षण की क्रिया मिलती है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के द्वारा ब्रह्माण्ड के विभिन्न पिण्ड पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण के कारण गतिशील रहते है। पहले गुरुत्वाकर्षण शक्ति का केवल एक ही रूप ज्ञात था। न्यूटन ने इस रहस्य का उद्घाटन किया था कि विश्व के प्रत्येक पिंड में दूसरे पिड के प्रति आकर्षण विद्यमान है। संसार का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो कि इस आकर्षण शक्ति से बधा हुआ न हो।[१] अब इसके दूसरे पक्ष—विकर्षण का भी पता चला है। जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के पिडो मे आकर्षण है, उसी प्रकार पिंडों के बीच में परस्पर विकर्षण भी है, इसीलिए विभिन्न ग्रह और नक्षत्र एक दूसरे से सटे हुए है तथा उनमे परस्पर टक्कर नही होती।[२] नई खोजो के अनुसार इस विकर्षण-शक्ति के कारण ही ब्रह्माण्ड का विस्तार हो रहा है।[3]

भौतिक विज्ञान मे शक्ति का दूसरा रूप चुम्बक शक्ति है। कुछ लौह मिश्रित धातुओं में एक ऐसी शक्ति पायी जाती है जो कि लौह पदार्थो को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है जब कि जस्ते को विकर्षित कर देती है।[४] चुम्बक के दो छोरों के बीच भी परस्पर आकर्षण-विकर्षण की क्रिया होती है। इसी प्रकार विद्युत शक्ति (Electricity) भी आकर्षण-विकर्षण के रूप मे कार्य करती है। 'इलैक्ट्रिसिटी' का यह नाम ही एक प्राचीन यूनानी शब्द 'इलैक्ट्रान' (Electron) के आधार पर पड़ा है। ईसा से लगभग ६०० वर्षो पूर्व 'थेलस ऑफ मिलेट्स' ने 'इलैक्ट्रान' नाम के पदार्थ में निहित आकर्षण-शक्ति का अनुसंधान किया था, तथा उसी के आधार पर इस शक्ति को 'इलैक्ट्रिसिटी' का नाम दिया गया था—अतः 'इलैक्ट्रिसिटी' का अर्थ ही 'आकर्षण शक्ति' होता है।[५] प्रारम्भ में इलैक्ट्रिसिटी के इस एक ही पक्ष का लोगों को पता था किन्तु आगे चलकर इसके दूसरे पक्ष—विकर्षक रूप का भी पता

1—2. Man and his Physical world by Gray, Page 34.
3. The A. B. C. of Relativity : By Bertrand Russell, Page 100-110 1958.
४. हिन्दी विश्व-भारती, पृ० २४६५–२४७२।
५. वही, पृ० २७३७।

चला।[६] गुरुत्वाकर्षण एवं चुम्बक की भाँति विद्युत् शक्ति में भी आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रियाएँ मिलती है।

'जीव-विज्ञान' के क्षेत्र में भी आकर्षण-विकर्षण शक्ति का अस्तित्व सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। जीव की प्रारम्भिक उत्पत्ति से लेकर उसके नवसंतानोत्पादन तक की सभी क्रियाएँ इस आकर्षण-विकर्षण की शक्ति के द्वारा ही संपादित होती हैं। जहाँ प्रत्येक जीव की सृष्टि नर और मादा के पारस्परिक आकर्षण के फलस्वरूप होती है, वहाँ गर्भस्थ भ्रूण का विकास भी उसके विभिन्न जीव-कोषों के पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण की शक्ति के द्वारा होता है। जब माता-पिता के क्षरित अशो के मिलन से नये जीव के प्रथम जीव-कोष (Cell) का निर्माण हो जाता है तो उसके भीतरी तत्त्व दो वर्गों में विभाजित होकर परस्पर आकर्षण-विकर्षण की क्रिया से संचालित होते हुए असंख्य जीव-कोषो में परिणित हो जाते है। 'भ्रूण-विज्ञान' (Embryology) के विद्वानों ने इस प्रक्रिया को 'क्षेत्रीय प्रक्रिया' (Field action) का नाम दिया है। यह क्षेत्रीय प्रक्रिया गुरुत्वाकर्षण शक्ति, चुम्बक शक्ति एव विद्युत् शक्ति की आकर्षण-विकर्षण प्रक्रिया से कितना गहरा साम्य रखती है, इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए भ्रूण-विज्ञान के विद्वान् प्रो० सी० एच० वैडिगटन ने लिखा है—"जीव के विकास की वास्तविक प्रक्रिया सिटोप्लाजम और नाभिक की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर है। (गर्भस्थ) जीवाणु के भीतर प्रत्येक विन्दु पर किसी भी प्रकार का विकास इस बात पर निर्भर है कि वह किस अन्य बिन्दु के कितना समीप पड़ता है तथा समस्त क्षेत्र की दृष्टि से वह कहाँ स्थित है। इस क्रिया को यह नाम क्यो दिया गया, इसका कारण यह है कि जीव-कोषो मे भी यह क्रिया ठीक उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण, चुम्बक आदि शक्तियों के क्षेत्र मे होती है।"[८]

शरीर धारण करने के अनन्तर भी जीवन का सचालन पोषण-सस्थान, रक्त-संस्थान, श्वास-सस्थान, स्नायु-सस्थान, आदि आठ प्रकार के संस्थानों के द्वारा होता है। ये सभी सस्थान आकर्षण-विकर्षण शक्ति के रूप मे ही कार्य करते है। उदाहरण के लिए पोषण-संस्थान भोजन में से सार तत्व को आकर्षित करता है (खीचता है) तथा मल को बाहर फेकता है या विकर्षित करता है।[९] रक्त-सस्थान शुद्ध रक्त को खींचता है और अशुद्ध रक्त को शेष शरीर मे फेकता है।[१०] श्वास-सस्थान भी श्वास

---

६. मैन एण्ड हिज फिजिकल वर्ल्ड : ग्रे, पृ० ३३३।
7. Principles of Embryology : By C. H. Waddington 1959, Page 17.
8. The same, Page 17.
९. सरल शरीर-विज्ञान : श्री जानकीशरण वर्मा ; १९४८, पृ० १३।
१०. वही।

के ही खींचने और फेंकने का कार्य करता है।[११] स्नायु-संस्थान सवेदनाओं को केन्द्रीय मस्तिष्क में पहुँचाने और केन्द्रीय मस्तिष्क की सूचनाओं को शेष शरीर में भेजने का कार्य करता है या यों कहिए कि वह केन्द्रीय मस्तिष्क की सूचनाओं को आकर्षित एवं विकर्षित करने का कार्य करता है।[१२] वस्तुत: मस्तिष्क का स्नायु-संस्थान भी बिल्कुल विद्युत् शक्ति की भाँति ही आकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करता है ; इस तथ्य की पुष्टि 'स्नायु-सस्थान' पर शोध करने वाले वैज्ञानिकों ने भी की है। श्री जे० सी० एक्लीज़ महोदय ने लिखा है कि मस्तिष्क की क्रियाएँ बिल्कुल उसी प्रकार सम्पन्न होती है जिस प्रकार भौतिक विज्ञान एव रसायन-विज्ञान के अनुसार चलने वाली मशीन कार्य करती है। "फर्क इतना ही है कि वह मशीन धातु पदार्थों से निर्मित न होकर हजारों स्नायुओं की बनी हुई है।"[१३] अस्तु, अधिक विस्तार में न पड़कर हम इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि जीव के प्रथम जीव-कोष की सृष्टि से लेकर उसके समस्त शारीरिक संस्थानों की गति-विधियों का संचालन आकर्षण-विकर्षण शक्ति के परिणाम स्वरूप ही होता है।

'मनोविज्ञान' मे आकर्षण-शक्ति का अस्तित्व उसकी विभिन्न शक्तियों में देखा जा सकता है। स्थूल रूप से मानसिक शक्तियों को भी तीन वर्गो में बाँट सकते हैं—(१) ऐन्द्रिक शक्तियाँ (२) बौद्धिक शक्तियाँ (३) भावात्मक शक्तियाँ। हम विभिन्न इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विपयों का प्रभाव ग्रहण करते है और तदनुकूल कार्य या व्यवहार करते है। हमारी सभी इन्द्रियाँ हमे दो प्रकार के प्रभावों या स्वादों की अनुभूति प्रदान करती है—आकर्पक या विकर्षक। आकर्पक स्वादों की प्रेरणा से हम प्रवृत्तिमूलक कार्य करते है तो विकर्पक स्वादो से निवृत्ति मूलक। दूसरे शब्दों में हमारी ये प्रवृत्तियाँ और निवृत्तियाँ इन्द्रियों के आकर्षण-विकर्षण की क्षमताओं से परिचालित होती है। इसी प्रकार बौद्धिक शक्तियों को लीजिए। हमारी बुद्धि जब भी सक्रिय होती है तो उसके सामान्य रूप को मनोविज्ञान में 'ध्यान' कहा जाता है। जब किसी भी विषय के प्रति हमारा ध्यान आकर्पित होता है तो उसका हमें **बोध** होता है।[१४] ध्यान के अभाव मे सब कुछ देखकर भी अनदेखे रह सकते है। 'ध्यान' शब्द की व्युत्पति 'धी' या बुद्धि से है तथा बुद्धि का क्रियात्मक रूप ही 'ध्यान' है। ध्यान के साथ 'आकर्पण' क्रिया का प्रयोग ही यह सिद्ध करता है कि इसका सम्बन्ध बुद्धि के आकर्षण से है। बौद्धिक आकर्पण के और भी अनेक रूप मनोविज्ञान में मिलते हैं ; जैसे—नवीन के प्रति आकर्पण को 'जिज्ञासा', विचित्र के प्रति आकर्षण को

---

११. सरल शरीर-विज्ञान : श्री जानकीशरण वर्मा ; १९४८, पृ० १३।
१२. वही, पृ० १६९-१७०।
13. The Neuro-physiological basis of mind : By J. C. Eccles 1952, Page 285.
१४. मनोविज्ञान : डा० यदुनाथ सिन्हा १९६०, पृ० ५४।

'कौतूहल' या 'औत्सुक्य' कहते हैं। किसी विषय के प्रति व्यक्ति का नैसर्गिक आकर्षण 'रुचि' आदि के नाम से पुकारा जाता है। बुद्धि की विकर्षण प्रक्रिया का अस्तित्व 'ध्यान न लगना', 'ध्यान हटना' 'अरुचि' आदि में देखा जा सकता है।

ऐन्द्रिक एवं बौद्धिक प्रवृत्तियो की ही भाँति हमारी समस्त भावात्मक शक्तियाँ भी आकर्षण-विकर्षण शक्ति से ही परिचालित होती है। जैसा कि डा० भगवानदास ने अपनी पुस्तक 'साइन्स ऑफ इमोशन्स' मे सिद्ध किया है—हमारे सभी भाव मूलतः आकर्षण-विकर्षण के ही विभिन्न विकसित रूप है।[१५] इस सम्बन्ध मे हम अधिक चर्चा अन्यत्र करेंगे। मानसिक आकर्षण-विकर्षण ही अहं से मिश्रित होकर 'इच्छा' में परिणत होता है। अतः हमारी प्रत्येक 'इच्छा' के मूल में वस्तु के प्रति आकर्षण या विकर्षण निश्चित रूप से रहेगा।[१६] अस्तु, मानसिक शक्ति के विभिन्न रूपों के मूल में आकर्षण विकर्षण शक्ति का अस्तित्व सर्वत्र ही स्वीकार किया जा सकता है—यह दूसरी बात है कि आकर्षण-विकर्षण की मात्रा अत्यल्प होने के कारण उसे हम अनुभव न कर सके।

दर्शन-शास्त्र के क्षेत्र में भी आकर्षण-शक्ति की चर्चा अनेक आचार्यो के द्वारा हुई है। ग्रीक दार्शनिक एम्पेडोक्लीज (समय ४९५—४३५ ई० पू०) ने सृष्टि की रचना, स्थिति एव गति का विवेचन करते हुए बताया कि प्रकृति मे सबसे पूर्व दो मूल शक्तियाँ प्रकट हुईं—एक थी, आकर्षण या प्रेम की शक्ति और दूसरी, विकर्षण या घृणा की शक्ति।[१७] आकर्षण-विकर्षण की इन्ही शक्तियो ने चार अन्य तत्त्वों—जल, वायु, पृथ्वी, अग्नि से सृष्टि की रचना की। उसने न केवल चेतन पदार्थों के आकर्षण-विकर्षण की व्याख्या की अपितु जड़-प्रकृति की समस्त क्रियाओं के मूल में इनका अस्तित्व स्वीकार किया। उनके शब्दों मे—"ये ही शक्तियाँ परस्पर प्रवाहित होती रहती है तथा इन्ही से मनुष्यों, पशुओं आदि की विभिन्न जातियाँ उत्पन्न होती है। किसी समय प्रेमाकर्षण की शक्ति से ये सब एक क्रम मे व्यवस्थित होकर मिल जाते है तो कभी घृणा के विकर्षण के कारण एक दूसरे से वियुक्त हो जाते है।........जब सृष्टि में प्रलय होती है तो विकर्षण के कारण सब पदार्थ वियुक्त हो जाते है........किन्तु आगे चलकर पुनः वे प्रेमाकर्षण के प्रभाव से मिलकर एक हो जाते है।"[१८] यद्यपि ग्रीक आचार्य के इस विवेचन से हम पूर्णतः सहमत नही है फिर भी इससे इतना स्पष्ट है कि उन्होंने आकर्षण-विकर्षण की शक्तियो के अस्तित्व को पूर्णत स्वीकार किया है।

आधुनिक युग के भी अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने आकर्षण-विकर्षण शक्ति के

15. The Science of Emotions : By Dr. Bhagwan Dass, D. Litt 1953, Page 84.
१६. वही, पृ० ४२।
17. Ideas of great Philosophers ; By S. E. Frost : 1942, Page 4
18. The Pre-Socratic Philosophy : G. S. Kirk, 1957, Page 345.

व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है—यह दूसरी बात है कि इसमें उन्हें अधिक सफलता नही मिली। इनमें काण्ट और हीगल उल्लेखनीय है। काण्ट महोदय ने आकर्षण-विकर्षण की शक्तियों को मूलभूत शक्तियों के रूप में स्वीकार करते हुए प्रकृति की समस्त क्रियाओं के मूल में इनके ही अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास किया।[१९] आगे चलकर हीगल ने काण्ट के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए प्रतिपादित किया कि विश्व की गति का मूल सत् है तथा उसका स्वरूप आकर्षण रूपी है।[२०] संसार के समस्त पदार्थ इसी आकर्षण शक्ति से बँधे हुए है। वही प्राणियों में प्राण-शक्ति के रूप में विद्यमान है। इस प्रकार जगत की सृष्टि, स्थिति एवं गति के मूल में यही शक्ति कार्य करती है। हीगल के अनन्तर और भी अनेक दार्शनिकों ने आकर्षण शक्ति की चर्चा की किन्तु वे उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों की व्याख्या सम्यक् रूप से नहीं कर सके। इससे यह सिद्धान्त अधिक प्रचलित नहीं हो सका।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक ऐसी शक्ति को मान्यता दी गई है जो कि समस्त विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं गति की मूलाधार है। इस शक्ति को विभिन्न संप्रदायों ने विभिन्न संज्ञाओं से अभिभूषित किया है—जैसे, प्रकृति, माया, शक्ति, कुंडलिनी आदि। किन्तु इनके स्वरूप का जैसा विवेचन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि ये आकर्षण-शक्ति के ही विभिन्न नाम है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में प्रकृति को 'मोह-पाश' के रूप में सृष्टि-चक्र को चलाने वाली तथा समस्त जीवों को बाँध लेने वाली बताया गया है।[२१] श्री बलदेव उपाध्याय ने प्रकृति के इस मोह-पाश को आकर्षण-जाल का पर्यायवाची माना है।[२२] प्रकृति का दूसरा नाम 'माया' भी आकर्षण-शक्ति का ही समानार्थक है। इस माया के सम्बन्ध में प्रो० बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—"माया का स्वरूप ब्रह्म ज्ञानियों, संतों और भक्तों ने आकर्षण जाल के तुल्य ही माना है। इसी लिए कबीर ने उसके लिए कहा है—"लै फाँसि हमहूँ को आई।"[२३] शैव दर्शन में इसी को शक्ति एवं कुंडिलिनी कहा गया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—"संसार के समस्त पदार्थों में—परमाणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक—जड़ से लेकर चेतन तक समस्त शक्तियाँ उसी शक्ति के विभिन्न रूप है।[२४] इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि गुरुत्वाकर्षण, चुम्बक, विद्युत् प्राण आदि सभी शक्तियाँ उसी के विभिन्न विकसित रूप है। "इतना अवश्य है कि पदार्थों की अपनी-अपनी परिस्थितियो के कारण कही शक्ति का पूर्ण विकसित रूप, कहीं अविकसित

19. Cosmology : Volume I : By S. A. Ralmers 1941, Page 226.
२०. पाश्चात्य दर्शनो का इतिहास : डा० गुलाबराय १९८३ वि०, २०५।
२१. ईशादि नौउपनिषद् : गी० प्रे० स० २०१६, पृ० ३६१-६३।
२२. भारतीय दर्शन : श्री बलदेव उपाध्याय, पृ० ३३९।
२३. वही।
२४. नाथ-संप्रदाय : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १००।

तथा कहीं अर्द्ध विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है।"[२५] गोरक्षमत का सिद्धान्त है—जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है—प्रत्येक पिंड में, प्रत्येक अणु-परमाणु में वह शक्ति विद्यमान है। जगत का प्रत्येक प्राणी उसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में अनुभव करता है। ब्रह्माण्ड के रग-रग में प्रव्याप्त वह शक्ति मानव-देह में कुडिलिनी रूप में स्थिति है।"[२६] इस प्रकार हम देखते है कि विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों ने आकर्षण शक्ति का अस्तित्व विभिन्न रूपों—प्रकृति, माया, शक्ति, कुंडलिनी आदि—में स्वीकार करते हुए इसे विश्व की सृष्टि, स्थिति और गति का आधार माना है। आकर्षण शक्ति की शेष प्रवृत्तियाँ भी इनमें विभिन्न रूपों में मिलती हैं, जिनकी चर्चा आगे प्रसंगानुसार की जायगी।

८.२. शक्ति की त्रिगुणात्मकता—

शक्ति का संगठन तीन प्रकार के तत्त्वों से होता है, जिससे उसमें तीन प्रकार के गुण परिलक्षित होते हैं। ये तीन प्रकार के तत्त्व एटम में प्रोटान (Proton), इलैक्ट्रान (Electron), एव न्यूट्रान (Neutron) के रूप में, विद्युत् शक्ति में धनात्मक (Positive), ऋणात्मक (Negative) एवं उदासीन (Neutral) के रूप में, चुम्बक शक्ति में उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव एवं मध्य भाग के रूप में प्राप्त होते हैं। जीव-विज्ञान के क्षेत्र में इन्हे नर तत्त्व, मादा तत्त्व एवं नपुसक तत्त्व कह सकते है तो मनोविज्ञान के क्षेत्र में ये बौद्धिक, चेष्टात्मक एवं भावात्मक तत्त्व माने जाते हैं। भारतीय दर्शनो में इन्हें कही सत्, चित्, आनन्द की संज्ञा दी गई है तो कहीं सत् रज और तम कहा गया है। वस्तुतः ब्रह्म के प्रसंग में जो सत् चित् आनन्द है वही प्रकृति के प्रसंग मे सत्, रज, एव तम माना गया है। वैष्णवों ने इन्हें क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा एव महेश कहा है तो शैवो ने इनका नामकरण परम शिव, शिव और शक्ति के रूप में किया है। हठयोग मे इन्हें इडा, पिगला और सुषुम्ना के नाम से पुकारा गया है। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में इनके विभिन्न नाम और रूप मिलते है किन्तु इनकी प्रवृत्तियो मे प्रायः समानता मिलती है। इसे स्पष्ट करने के लिए इन्हें तालिका रूप मे प्रस्तुत करते हैं—

(प्रथम वर्ग)	(द्वितीय वर्ग)	(तृतीय वर्ग)
प्रोटान	इलैक्ट्रान	न्यूट्रान
धनात्मक	ऋणात्मक	उदासीन
उत्तरी ध्रुव	दक्षिणी ध्रुव	मध्य भाग
नर तत्त्व	मादा तत्त्व	नपुसक तत्त्व
ज्ञान	चेष्टा	भाव

२५. नाथ-संप्रदाय : डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ११० ।
२६. वही, पृ० ११२ ।

सत्	चित्	आनन्द
सत्	रज	तम
विष्णु	ब्रह्मा	महेश
शिव	शक्ति	परम शिव
इड़ा	पिंगला	सुषुम्ना

यद्यपि ऊपर विभिन्न क्षेत्रों के तत्त्वों को एक-एक वर्ग में स्थान दिया गया है, किन्तु फिर भी प्रत्येक वर्ग के तत्त्वों में अनेक समानताएँ मिलती है। प्रथम वर्ग के तत्त्व—प्रोटान, धनात्मक, उत्तरी ध्रुव, नर, ज्ञान, सत्, आदि, अपने ही क्षेत्र के दूसरे वर्ग के तत्त्वों की अपेक्षा अधिक स्थिर एवं भारी होते हैं जब कि दूसरे वर्ग के तत्त्व बहुत चचल एवं गतिशील होते है। उदाहरण के लिए एटम में प्रोटान इलैक्ट्रान की अपेक्षा स्थिर एवं भारी होते है जब कि इलैक्ट्रान प्रोटान के चारों ओर निरन्तर चक्कर काटते रहते है। तीसरे वर्ग के तत्त्व मूल अवस्था में सदा उदासीन, एवं निष्क्रिय रहते हैं, किन्तु जब वे जागते है तो प्रथम और दूसरे वर्ग के तत्त्वों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते है। वस्तुतः इनमे प्रथम और द्वितीय वर्ग के तत्त्वों का मिश्रण रहता है। या यों कहिए कि प्रथम दो वर्गों के तत्त्व तीसरे वर्ग के तत्त्वों के ही व्यक्त रूप हैं। कई बार प्रथम और द्वितीय वर्ग के तत्त्वों को समान मात्रा मिला देने पर वे तीसरे वर्ग के तत्त्व में परिणत हो जाते है। इसका रहस्य आगे स्पष्ट किया जायगा। सामान्यतः हम तीनों वर्गो की मूल प्रकृति को देखते हुए इन्हें क्रमशः पुरुष वर्ग, नारीवर्ग एवं नपुसक वर्ग की सज्ञा दे सकते है।

८.३. शक्ति के विभिन्न तत्त्वों में पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण—

ऊपर हमने जिन तीन वर्गो की चर्चा की है, उनमे प्रायः यह सामान्य प्रवृत्ति मिलती है कि प्रथम वर्ग या पुरुष वर्ग के तत्त्व अपने ही क्षेत्र के दूसरे वर्ग या नारी वर्ग के तत्त्वों के प्रति आकर्षित होते है जब कि पुरुष वर्ग का पुरुष वर्ग के प्रति तथा नारी वर्ग का नारी वर्ग के प्रति विकर्षण रहता है। उदाहरण के लिए एटम में प्रोटान और इलैक्ट्रान के बीच आकर्षण रहता है, किन्तु प्रोटान और प्रोटान के बीच या इलैक्ट्रान और इलैक्ट्रान के बीच विकर्षण रहता है।[२७] विद्युत् शक्ति में धनात्मक जाति का ऋणात्मक जाति के प्रति आकर्षण रहता है जब कि स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है।[२८] चुम्बक शक्ति में एक चुम्बक का उत्तरी ध्रुव दूसरे चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव को अपनी ओर खीच लेता है जब कि दोनों के उत्तरी ध्रुव उत्तरी ध्रुव को या दक्षिणी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव को दूर फेंक देते हैं।[२९] इसी प्रकार जीव विज्ञान में शुक्राणु और रजाणु

---

27. Understanding chemistry : L. P. Lessing 1959, Page 66.
28. Man and his physical world ; Gray, Page 333.
२९. वही, Page 319.

के बीच आकर्षण रहता है तो जीव-कोषों में प्रोटोप्लाजम एवं सिटोप्लाजम के बीच आकर्षण की प्रक्रिया चलती है।[30] यौनाकर्षण में जिस प्रकार पुरुष और नारी के बीच आकर्षण रहता है वैसे ही शरीर एव मस्तिष्क क्षेत्र के विभिन्न विरोधी तत्त्वो के बीच भी आकर्षण रहता है। उदाहरण के लिए शरीर के रक्त-सस्थान की प्रक्रियाओं को देखा जा सकता है। हमारा रक्त-सस्थान चार प्रकार के कोष्ठकों में विभाजित हैं, जिनमें से दो कोष्ठक दाहिनी ओर है और दो बाई ओर। प्रत्येक ओर के कोष्ठकों के भी दो-दो भेद है—ग्राहक और क्षेपक ; अर्थात् एक कोष्ठक रक्त को खींचता है और दूसरा फेंकता है। यह आश्चर्य की बात है कि जिस प्रकार चुम्बक का उत्तरी ध्रुव दूसरे चुम्बक के दक्षिणी ध्रुव को आकर्षित करता है वैसे ही रक्त सस्थान के बाईं ओर का ग्राहक दाहिनी ओर के क्षेपक से रक्त आकर्षित करता है जब कि दाहिनी ओर का ग्राहक बाई ओर के क्षेपक से रक्त खींचता है।[31] इसी प्रकार हमारे मस्तिष्क में भी बाईं ओर का गोलार्द्ध हमारे शरीर के दाहिने भाग की सवेदनाओं को और दाहिनी ओर का गोलार्द्ध शरीर के बाम भाग की सवेदनाओ को आकर्षित-विकर्षित करता है।[32] वस्तुतः यह नियम शरीर एव मस्तिष्क के विभिन्न स्तरों की विभिन्न क्रियाओं मे मिलता है, यहाँ हम विस्तार-भय से सबका उल्लेख नही करते। दर्शन के क्षेत्र मे भी पुरुष और प्रकृति, शिव और शक्ति, सत् और चित् या सत् और रज के बीच इस प्रकार के आकर्षण सम्बन्ध की कल्पना की गई है, यद्यपि इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन नही मिलता।

८.४. शक्ति की दो अवस्थाएँ—

शक्ति की सामान्यत. दो अवस्थाएँ रहती है—सुषुप्त एवं जागृत। सुषुप्त अवस्था में वह कोई कार्य नही करती जब कि जागृत अवस्था मे वह सक्रिय हो जाती है। इन दोनो अवस्थाओ को विज्ञान मे 'स्थितिज रूप' (Potential) एव गतिशील रूप (Kinetic) कहते है।[33] मनोविज्ञान मे इन्हे चेतन और अचेतन कहते है, जब कि दर्शन में इन्हे सुषुप्ति और जागृति कहते है। यद्यपि दार्शनिको ने इन दोनों अवस्थाओं के बीच की स्थिति—स्वप्न—भी मानी है किन्तु उसका समावेश हम यहाँ स्थूल रूप मे सुषुप्ति के अन्तर्गत ही कर सकते है। शक्ति की दोनो अवस्थाओ का मूल कारण यह है कि जब उसके तत्त्वों मे पुरुष तत्त्व एव नारी तत्त्व सम मात्रा मे संघटित होते है तो वह सुषुप्त हो जाती है जबकि दोनो प्रकार के तत्त्वो मे वैषम्य होने पर वह उद्दीप्त, जागृत एव सक्रिय हो जाती है। उदाहरण के लिए—एटम में

---

30. Cell physiology : A. C. Giese 1957, Page 385.
३१. सरल शरीर-विज्ञान, श्री जानकीशरण वर्मा, १९४८ पृ० १३।
३२. वही, पृ० ११३।
33. Man and his physical world : Gray, Page 250-52.

जब प्रोटान एवं इलैक्ट्रान की संख्या बराबर-बराबर होती है तो वह शान्त एवं निस्पंद पड़ा रहता है जब कि उनकी संख्या में वैषम्य उपस्थित होने पर वह किसी अन्य एटम से मिलने के लिए आतुर रहता है।[३४] एक एटम से दूसरे एटम का संयोग इसी आधार पर होता है।[३५] इसी प्रकार जब चुम्बक के दोनों छोरों को मिलाकर छल्ले का रूप दे देते हैं तो उसकी आकर्षण-विकर्षण शक्ति विलुप्त हो जाती है, किन्तु जब उसे बीच में से काट देते है तो पुनः शक्ति उद्दीप्त हो जाती है।[३६] अस्तु, पुरुष तत्त्वो एवं नारी तत्त्वों की मात्रा सम होने पर शक्ति नपुसक रूप में परिणत होकर शान्त, उदासीन, निस्पंद और निष्क्रिय हो जाती है जब कि उसका यह साम्य भंग होने पर वह पुनः चंचल एवं सक्रिय हो जाती है। तीसरे वर्ग के तत्त्व भी—जिन्हें हमने नपुसक वर्ग की सज्ञा दी है—असंतुलित हो जाने पर उद्दीप्त हो जाते हैं तथा पुरुष एवं नारी वर्ग के तत्त्वों में परिणत हो जाते है। उदाहरण के लिए, एटम के केन्द्र में न्यूट्रान सदैव निष्क्रिय अवस्था में पड़ा रहता है, किन्तु वैज्ञानिक न्यूट्रान का साम्य भंग करके उसकी शक्ति को जगा लेते है, जिसे 'परमाणु शक्ति' कहते है। साम्य भंग करने के भी दो उपाय माने जाते है—(१) सयोजन (Fusion) की प्रक्रिया एवं (२) विच्छेदन की प्रक्रिया (Fission)।[३७] संयोजन की प्रक्रिया से न्यूट्रान में नया तत्त्व मिला दिया जाता है जब कि विच्छेदन की प्रक्रिया में उसके टुकडे कर दिये जाते हैं—अतः शक्ति की उद्दीप्ति के लिए साम्य-भग होना आवश्यक है, चाहे वह कैसे ही हो।

दर्शन और योग के क्षेत्र मे भी शक्ति की उद्दीप्ति के लिए उसकी सुषुप्ति को भंग करना पड़ता है। शैव दर्शनो में परम शिव जव शिव और शक्ति में विभाजित हो जाते है तो वे सृष्टि का सृजन कर पाते है।[३८] अद्वैत दर्शन के अनुसार जब पुरुष के संपर्क से प्रकृति के तीन गुणो—सत, रज, तम—मे असतुलन उपस्थित हो जाता है तो विश्व की सृष्टि होती है।[३९] योग और हठ योग मे भी शक्ति को जगाने के लिए विभिन्न प्रकार की साधनाओ से कुडलिनी एव सुषुम्ना को चंचल एव उद्दीप्त करना पड़ता है।[४०] अतः यह सामान्य नियम है कि शक्ति को सक्रिय करने के लिए उसे वैषम्य के द्वारा उद्दीप्त करना पड़ता है।

---

34. On Nuclear Energy : Donald J. Hughes 1957, Page 10-11.
३५. वही।
३६. हिन्दी विश्व भारती, पृ० २४६६।
37. On Nuclear Energy: Donald J. Hughes, Page 8.
३८. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय।
३९. भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास : डा० देवराज १९४०, पृ० २६८।
४०. नाथ सम्प्रदाय : अचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १०५।

८.५. आकर्षण शक्ति की चार प्रक्रियाएँ—

आकर्षण-शक्ति के समस्त कार्य-व्यापार को उसके विकास-क्रम की दृष्टि से चार प्रक्रियाओं मे विभाजित किया जा सकता है—

(१) **संयोजन की प्रक्रिया**—आकर्षण शक्ति सर्व प्रथम दो तत्त्वों में परस्पर संपर्क या सम्बन्ध स्थापित करती है, जिसे हम संयोजन की प्रक्रिया कह सकते हैं। विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रक्रिया को विभिन्न नाम दिये जाते है—जैसे, योग, सहयोग, ग्रहण, मेल, अनुरक्ति आदि। यदि व्यापक दृष्टि से देखें तो इन सभी में किसी शक्ति के प्रभाव से दो तत्त्वो का संपर्क, योग, सन्धि, मेल आदि होता है—अत: इनके शाब्दिक अन्तर को विशेष महत्त्व न देकर इन सभी को हम आकर्षण शक्ति की प्रथभ प्रक्रिया—संयोजन की प्रक्रिया में स्थान दे सकते है।

(२) **संप्रेषण की प्रक्रिया**—आकर्षण शक्ति की दूसरी प्रक्रिया संप्रेषण की प्रक्रिया है। आकर्षण शक्ति के द्वारा दो तत्त्वों मे सयोजन होने के अनन्तर वे परस्पर संप्रेषित होते है; एक दूसरे के गुणो को ग्रहण करते है और द्वैत से अद्वैत में परिणत हो जाते है। दो तत्त्वो के इस गूढ़ सप्रेपण को भी विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न प्रसंगों के प्रेषण, तादात्म्य, पोषण, शोषण, भोग, आदि के नाम से पुकारा जाता है, किन्तु इन सभी मे एक तत्त्व की दूसरे तत्त्व मे किसी न किसी प्रकार से आन्तरिक एकता स्थापित होती है या एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का संप्रेषण करता है—अत: इन सब को हम संप्रेषण की प्रक्रिया के अन्तर्गत लेते है।

(३) **द्रवण की प्रक्रिया**—इस प्रक्रिया के अनुसार दो तत्त्वो के सप्रेपण के अनन्तर वे 'द्रवित' होते है—जिसे द्रवण की प्रक्रिया कह सकते है। विभिन्न क्षेत्रों में यही प्रक्रिया खंडन, विच्छेदन, विश्लेषण, विस्तार के रूप मे घटित होती है। जिसे हम सामान्य भाषा में 'द्रवण' कहते है वह भौतिक विज्ञान के अनुसार सश्लिष्ट अणुओं का बाह्य शक्ति के प्रभाव से विच्छेदन, विश्लेषण या विस्तार ही है—अतः ये सब द्रवण की प्रक्रिया के ही विभिन्न रूप है।

(४) **अभिव्यक्ति की प्रक्रिया**—आकर्षण शक्ति के द्वारा विभिन्न तत्त्व संयोजित एवं द्रवित होने के अनन्तर वे अभिव्यक्ति के रूप में फूटते है; इसी को हम अभिव्यक्ति की प्रक्रिया कह सकते है। यह अभिव्यक्ति की प्रक्रिया कही मूल तत्त्वों को नये रूप मे जन्म देती है, या नव सृष्टि करती है, तो कही उनके कुछ अंशों को बाहर फेंकती है या निष्कासित करती है। अत: अभिव्यक्ति, नव सृष्टि, प्रक्षेपण, निष्कासन आदि की प्रक्रियाएँ व्यापक दृष्टि से आकर्षण-शक्ति की अभिव्यक्ति प्रक्रिया के ही विभिन्न रूप है।

आकर्षण-शक्ति की उपर्युक्त चारों प्रक्रियाएँ सभी विषयों एवं क्षेत्रों मे मिलती हैं; इसे आगे हम भौतिक-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनो-विज्ञान आदि के आधार पर स्पष्ट करेंगे। इससे पूर्व यहाँ यह बता देना उचित होगा कि ये प्रक्रियाएँ आकर्षण

शक्ति के बल की मात्रा पर आधारित हैं। अर्थात् यदि आकर्षण-शक्ति सबल हुई तो वह चारों प्रक्रियाओं में से गुजरती हुई अपने अंतिम लक्ष्य तक पहुँच सकेगी अन्यथा वह बीच में ही दम तोड देगी। यदि आकर्षण शक्ति सर्वथा न्यून बल वाली हुई तो संभव है कि वह पहली प्रक्रिया—संयोजन की प्रक्रिया—तक भी न पहुँच पाये और यदि पहुँच भी गई तो आगे न बढ़ सके। जैसे प्रेम के क्षेत्र में कुछ व्यक्तियों का आकर्षण सबल न होने पर वह उनके पारस्परिक संयोजन तक नही पहुँच पाता—वैसा ही आकर्षण-शक्ति के अन्य क्षेत्रों में भी होता है। इसी प्रकार कही आकर्षण-शक्ति दूसरी प्रक्रिया तक ही पहुँच पाती है तो कही तीसरी तक ही पहुंचकर रह जाती है। आकर्षण-शक्ति पूर्णतः सबल होने पर ही वह चारों प्रक्रियाओं को पूरी कर पाती है। अस्तु, ये चारों प्रक्रियाएँ जहाँ आकर्षण-शक्ति के विकास-क्रम को सूचित करती हैं, वहाँ वे उसके बल की मात्रा को भी बताती है। यहाँ यह ध्यान रहे कि विज्ञान के अनुसार शक्ति का प्रत्येक रूप अपनी शक्ति की मात्रा के अनुसार ही कार्य सपादित करता है तथा गुरुत्वाकर्षण शक्ति, विद्युत शक्ति, चुम्बक शक्ति आदि के बल को नापने के विभिन्न फार्मूले भी बने हुए है। अतः आकर्षण-शक्ति, चाहे उसमें शक्ति न्यून हो या अधिक वह आकर्षण शक्ति है, किन्तु उसके कार्य की गुरुता उसकी शक्ति की मात्रा पर ही निर्भर है। आकर्षण शक्ति की इन प्रक्रियाओं को आगे विभिन्न क्षेत्रों के उदाहरणों से स्पष्ट किया जाता है।

(क) **भौतिक विज्ञान**—भौतिक विज्ञान में आकर्षण शक्ति की चारों प्रक्रियाओं का निदर्शन मुख्यतः चुम्बक एव विद्युत शक्ति के आधार पर कर सकते है। सामान्यतः चुम्बक की आकर्षण शक्ति उसका दूसरे लौह पदार्थ से सयोजन या सपर्क स्थापित करवा देती है। यदि चुम्बक अधिक शक्तिशाली हुआ तो दूसरे लोहे में भी चुम्बकत्व का गुण प्रेषित कर देता है—अर्थात् वह लोहा भी दूसरे लोहे को आकर्षित कर लेता है। कई बार एक ही चुम्बक के साथ एक सुई और एक सुई से दूसरी सुई तथा दूसरी से तीसरी सुई जुड़ती चलती है क्योंकि चुम्बक की शक्ति उन सुइयों में प्रेषित हो जाती है। चुम्बक की आकर्षण शक्ति दूसरी प्रक्रिया—संप्रेषण की प्रक्रिया तक तो पहुँच जाती है, किन्तु आगे नही बढ़ पाती। चुम्बक इतना शक्तिशाली नही होता कि दूसरे लौह पदार्थ को द्रवित भी कर सके। विद्युत् की शक्ति अधिक बलशाली होती है। यदि हम किसी लौह पदार्थ में विद्युत की प्रबल धारा प्रवाहित करे तो वह पहले धारा प्रवाह की ओर आकर्षित होकर उससे संयुक्त हो जायगा, फिर विद्युत् की शक्ति से संप्रेषित होकर स्वय विद्युत् बन जायगा तथा दूसरे पदार्थों को आकर्षित करने लगेगा तदनन्तर वह द्रवित होकर बहने लग जायगा और अन्त में वह वाष्प के रूप में व्यक्त होकर नये रूप में परिणत हो जायगा। अतः विद्युत की क्षमता के अनुसार ये चारों प्रक्रियाएँ संपन्न होंगी। यदि विद्युत् की शक्ति ही न्यून मात्रा में हुई तो उसका कार्य बीच की ही किसी एक प्रक्रिया के बाद समाप्त हो जायगा। उदाहरण के लिए

बिजली के स्टोव में उसके तार विद्युत् की शक्ति से संप्रेपित तो हो जाते हैं, किन्तु आगे की प्रक्रियाएँ—द्रवण और अभिव्यक्ति की—संपादित नही होती । अस्तु, विद्युत् शक्ति के ही विभिन्न कार्यों मे नही—प्रकृति के द्वारा सपादित होने वाले प्रायः सभी प्रकार के भौतिक क्रिया-कलापो पर प्रक्रियाओ का यह नियम लागू होता है । यहाँ हम अधिक उदाहरण प्रस्तुत करना अनावश्यक समझते है ।

(**ख**) **जीव-विज्ञान** (Biology)—शक्ति की उपर्युक्त चारो प्रक्रियाएँ जीव-विज्ञान के क्षेत्र में भी भली-भाँति मिलती है। जीव की प्रथम मृष्टि से लेकर शरीर के विभिन्न अवयवों के पोषण एव विभिन्न संस्थानों के सचालन तक सभी क्षेत्रो मे ये क्रियाएँ मिलतो है । समस्त जीवो का मूल तत्त्व 'जीव-कोष' (Cell) माना जाता है । वृक्षो से लेकर मनुष्यों तक सभी प्राणियो के जीव-कोप ग्रहण, पोपण, द्रवण एवं निष्कासन की प्रक्रियाएँ करते है जिन्हे हम क्रमशः सयोजन, सप्रेषण, द्रवण एव अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ कह सकते है । नये जीवों की मृष्टि यौनाकर्षण की शक्ति के द्वारा होती है, जो कि नर-मादा की सयोजन (सपर्क), सप्रेपण (सयोग) द्रवण एव अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओ के रूप में नये जीवाणुओं को जन्म देती है । पुरुष और नारी के व्यक्त अंशों से निर्मित प्रथम जीवाणु भी अपनी जीवनी-शक्ति के वल पर भ्रूण के रूप मे विकसित होता है । भ्रूण-विज्ञान (Embryology) के अनुसार भ्रूण के विकास की प्रक्रिया को 'उत्पादन की क्रिया' (Fertilization) कहते है, क्योंकि भ्रूण के रूप में प्रथम जीवाणु असंख्य जीवाणुओं का उत्पादन करता हुआ विकसित होता है । इस उत्पादन की क्रिया के मुख्यतः चार अंग है—(१) पहले दो जीवाणु परस्पर मिलते है । (२) तदनन्तर दोनो एक दूसरे से घुल मिलकर एकाकार हो जाते है । (३) तदनन्तर उनका पुनः विभाजन होने लगता है । (४) और अन्त मे उनमें से पुनः एक नया जीवाणु फूटता या जन्म लेता है । इस प्रकार जीवाणु अपने मे से ही असख्य नये जीवाणुओं की अभिव्यक्ति करते हुए विकसित होते है । भ्रूण के विकास की इन चारों प्रक्रियाओ को हम क्रमशः संयोजन, सप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रिया कह सकते है । ये चारों प्रक्रियाएँ पुरुष और नारी के प्रथम जीवाणुओ के मिलन से लेकर जीवन के अन्त तक शरीर में बराबर चलती रहती है ; इन्ही क्रियाओं के द्वारा हमारी जीवनी-शक्ति शरीर का जन्म पालन-पोषण एव विकास करती है । शरीर के विभिन्न संस्थानों का संचालन भी इन्हीं प्रक्रियाओ के रूप मे होता है। अत आकर्षण-शक्ति की चारों प्रक्रियाओं का समर्थन जीव-विज्ञान के द्वारा भी पूर्णत. होता है ।

(**ग**) **मनोविज्ञान**—आकर्षण-शक्ति की उपर्युक्त चारो प्रक्रियाएँ मानसिक क्रियाओं में भी मिलती है । विभिन्न मानसिक क्रियाएँ किस प्रकार आकर्षण शक्ति के रूप में कार्य करती है—यह पहले बताया जा चुका है। मनोविज्ञान के अनुसार हमारी विभिन्न मानसिक शक्तियों का संचालन विभिन्न स्नायुकोष करते है । ये स्नायुकोष इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों से संपर्क स्थापित करते है (सयोजन की प्रक्रिया),

उनके प्रभाव को संवेदित या संप्रेषित करते हैं (संप्रेषण की प्रक्रिया), और उत्तेजित, चंचल या द्रवित होकर (द्रवण की प्रक्रिया) अपनी अनुभूति को किसी न किसी रूप में—चेष्टा, वाणी, अश्रुमोचन, रुदन, हर्ष-ध्वनि आदि के रूप में—व्यक्त करते हैं (अभि-व्यक्ति की प्रक्रिया)। इस प्रकार हमारे समस्त स्नायु-कोष संयोजन, संप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं के रूप में ही अपना कार्य-व्यापार सपादित करते है। इन्द्रियों के अतिरिक्त बौद्धिक एव भावात्मक अनुभूतियों के माध्यम से सपादित होने वाली मानसिक क्रियाओं में भी ये चारों प्रक्रियाएँ मिलती है। हमारी बुद्धि किस प्रकार समस्याओं पर विचार या चिन्तन करती है—इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ड्रेवर ने चिन्तन-प्रक्रिया के चार चरण माने हैं—(१) समस्या को समझना (२) सक्रियतापूर्वक सूत्रों का अनुसरण (३) सूझा हुआ परिकाल्पनिक अस्थायी हल और (४) उपलब्ध निष्कर्ष। यदि हम चिन्तन के इन चारों चरणों का विश्लेषण करें तो ये आकर्षण शक्ति की ही चार प्रक्रियाएँ सिद्ध होंगी ; देखिये—

(१) सर्वप्रथम जिज्ञासा, कौतूहल, रुचि या अन्य किसी बौद्धिक आकर्पण से हमारी समस्या मे प्रवृत्ति होती है तथा हम उसे समझते है। यही चिन्तन-प्रक्रिया का पहला चरण है जिसे हम 'सयोजन' या सपर्क की प्रक्रिया (व्यक्ति और विषय का संपर्क) कह सकते है।

(२) चिन्तन की दूसरी प्रक्रिया के अनुसार मूल समस्या के साथ हमारी स्मृति, पूर्व अनुभूतियों, तर्कना शक्ति का समन्वय होता है, हम समस्या को पूर्णतः हृदयंगम करते है—समस्या में हम तल्लीन हो जाते हैं ; चिन्तन के इस दूसरे चरण को सप्रेषण की प्रक्रिया कह सकते है।

(३) चिन्तन के तीसरे चरण के अनुसार, जब हम समस्या को हृदयगम कर लेते है तो हमारी मौलिक चिन्तन की प्रतिभा फूटती है, वह नये-नये सुझाव प्रस्तुत करती है। इसी को हम द्रवण की क्रिया कह सकते है।

(४) अन्त मे प्रतिभा, बुद्धि, तर्क आदि के सहयोग से समस्या का अतिम हल या निष्कर्ष उपलब्ध होता है। इन निष्कर्षों के रूप में ही हमारी चिन्तन शक्ति नये-नये विचारो, समाधानो सिद्धान्तो एवं नियमो को जन्म देती है, तथा इस जन्म देने की प्रक्रिया को ही अभिव्यक्ति प्रक्रिया का नाम दे सकते है।

जिस प्रकार बौद्धिक क्रिया-कलापो में शक्ति की चारों प्रक्रियाएँ परिलक्षित होती हैं, उसी प्रकार भावात्मक अनुभूतियो में भी वे दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए प्रेम भावना को लीजिए। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के सौन्दर्य या किसी अन्य गुण से आकर्षित होकर उससे नैकट्य **सम्बन्ध स्थापित** करता है धीरे-धीरे प्रेमालम्बन के व्यक्तित्व, रूप एवं गुणों का प्रभाव प्रेमी के हृदय में दिन पर दिन अधिक गंभीर होता जाता है। प्रेमी का व्यक्तित्व उसके मन में इस प्रकार **संप्रेषित हो जाता है** कि वह सर्वत्र उसी का अनुभव करता हुआ महाकवि सूर के शब्दों मे कहने लगता है—

"आँखिन में बसै, हियरे में बसै, जियरै में बसै, अंग-अंग में बसै, मोहन बंसी वारो ।" प्रेम की अगली अवस्था में प्रेमी का हृदय विभिन्न प्रकार के संचारी भावों की अनुभूतियों के रूप में प्रत्येक क्षण उत्तेजित, चंचल, विकल एवं **द्रवित** होता रहता है तथा इन अनुभूतियों की **अभिव्यक्ति** विभिन्न प्रकार के अनुभावों–शब्दों चेष्टाओ, सात्विक भावों जैसे रोमांच, अश्रु, प्रलाप आदि के रूप में होती रहती है। इस प्रकार प्रेमाकर्षण के प्रथम उदय से लेकर अन्त तक का सारा इतिहास शक्ति की चारों प्रक्रियाओ का ही इतिहास है। अन्य भावों में भी आलम्बन से **संपर्क,** उसके प्रभाव का **संप्रेषण,** तदनन्तर विभिन्न अनुभूतियो के संचरण (सचारी भावो) के रूप मे **उत्तेजन एवं द्रवण** और अन्त मे अनुभावो के रूप में उनकी **अभिव्यक्ति** होती है। अस्तु, मानसिक क्षेत्र की विभिन्न क्रियाएँ चाहे वे इन्द्रियों से सम्बन्धित हों या बुद्धि एवं भावो से सम्बन्धित —वे सभी संयोजन, संप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रियो के रूप में ही कार्य करती है। वस्तुतः हमारे जीवन के समस्त कार्य-व्यापार हमारे मानसिक जगत एवं बाह्य जगत के संपर्को, पारस्परिक सम्बन्धो की स्थापना, पारस्परिक प्रभावो के बोध, उनके परिणामस्वरूप उत्तेजना एवं उसकी अभिव्यक्ति के ही विभिन्न रूप है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शक्ति की उपर्युक्त प्रक्रियाओं का अस्तित्व भौतिक विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक, स्थूल भौतिक जगत से लेकर सूक्ष्म मानसिक जगत तक सर्वत्र पाया जाता है।

८.६. आकर्षण शक्ति के विभिन्न स्तर—

आकर्षण शक्ति विभिन्न स्तरो पर विभिन्न रूपो मे कार्य करती है। उदाहरण के लिए ब्रह्माण्ड के स्तर पर वह गुरुत्वाकर्षण शक्ति के रूप में कार्य करती है तो सूक्ष्म अणुओ में वह आणविक शक्ति के रूप मे निवास करती है। वैसे तो आकर्षण-शक्ति के इन स्तरों की कोई संख्या निश्चित करना कठिन है, किन्तु सामान्यतः हम इसके तीन स्थूल भेद कर सकते है—(१) भौतिक स्तर (२) शारीरिक स्तर और (३) मानसिक स्तर। इनमे से प्रत्येक स्तर पर शक्ति के अनेक रूप मिलते हैं, किन्तु उनकी चर्चा यहाँ अपेक्षित नही। हम यहाँ केवल इतना ही निर्दिष्ट कर देना चाहते हैं कि शक्ति के एक स्तर से सम्बन्धित रूप उसके दूसरे स्तर पर प्रायः अक्षम हो जाते हैं। उदाहरण के लिए भौतिक स्तर के विभिन्न रूप—गुरुत्वाकर्षण, चुम्बक, विद्युत, आणविक शक्तियाँ—शारीरिक स्तर और मानसिक स्तर पर कोई कार्य संपादित नही कर पाते। एक स्तर की शक्ति उसी स्तर के विभिन्न द्रव्यों एवं तत्त्वों को प्रभावित कर पाती है। वैज्ञानिक एक स्तर के कुछ रूपो को दूसरे रूपों में परिणत कर सकते हैं—जैसे गुरुत्वाकर्षण को विद्युत् में या विद्युत् को चुम्बक में—किन्तु वे एक स्तर के रूपों को दूसरे स्तर के रूपो में परिणत करने का रहस्य अभी नही खोज पाये। जड़ को अर्द्ध-चेतन एवं चेतन में परिणत करने का कार्य अभी तक

प्रकृति ही कर पाती है—वैज्ञानिक नही। शक्ति के स्तरों के सम्बन्ध में दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि शक्ति का स्तर जितना सूक्ष्म होता चलता है उतनी ही उसकी क्षमताएँ अधिक विकसित होती जाती है। भौतिक स्तर पर शक्ति स्थूल आकर्षण-विकर्षण के द्वारा पदार्थों के केवल रूप में परिवर्त्तन कर पाती है जब कि शारीरिक स्तर पर वह गति, वृद्धि, एवं पुनरुत्पादन की क्षमता से भी युक्त हो जाती है। इसी प्रकार मानसिक स्तर पर पहुँचकर शक्ति और भी अधिक सूक्ष्म हो जाती है जिससे उसके मौलिक सृजन एव नूतन आविष्कार आदि की क्षमताओं में असाधारण वृद्धि हो जाती है। हम अपने शरीर के लाखो गुने बल से जो कार्य संपादित नही कर पाते वह मानसिक शक्ति के द्वारा सहज ही संपन्न हो जाता है—यही कारण है कि हजारों पशुओ को एक मनुष्य शासित कर सकता है। अस्तु, शक्ति के विभिन्न रूपो पर विचार करते समय उनके स्तर-भेद को ध्यान मे रखना आवश्यक है।

८.७. आकर्षण शक्ति की गतियाँ—

आकर्षण शक्ति के विभिन्न रूपों में दो प्रकार की गतियाँ समान रूप से मिलती हैं। वे हैं—(१) परिक्रमा की गति, और (२) परिभ्रम की गति। परिक्रमा की गति के अनुसार शक्ति के विभिन्न तत्त्व किसी केन्द्रीय तत्त्व के चारों ओर चक्कर लगाते है जबकि परिभ्रमगति के अनुसार वे अपनी ही धुरी पर चक्कर काटते है। ये दोनों गतियाँ एक ओर ब्रह्माण्ड, में सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाले ग्रहों में, तथा दूसरी ओर पदार्थो के प्रत्येक कण में नाभिक (Nucleus) के चारों ओर चक्कर लगाने वाले इलैक्ट्रान्स में देखी जा सकती है। प्रकृति का यह विचित्र सत्य है कि ठीक ब्रह्माण्ड के ग्रहों और अणु के इलैक्ट्रान्स की ही भाँति वनस्पतियों, और प्राणियों के प्रत्येक जीवाणु या जीव-कोष (Cell) में प्ररस (Protoplasm) की कणिकाएँ केन्द्रीय तत्त्व के चारों ओर परिभ्रमण करती हुई परिक्रमा लगाती हैं। वस्तुतः सृष्टि का सृजन और विकास शक्ति की इन्हीं गतियों के रूप में होता है। इन्ही को हम आवर्त्तन-परिवर्तन की गति कह सकते है। जिस प्रकार बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज तक के विकास की गतियों में आवर्त्तन-परिवर्त्तन होता रहता है, उसी प्रकार युग, समाज और राष्ट्र के इतिहास में भी जातियों, सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं प्रवृत्तियों के उत्थान-पतन का क्रम चलता रहता है—इस सम्बन्ध में अन्यत्र विस्तार से प्रकाश डाला जायगा। यहाँ हम निष्कर्ष रूप में इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि शक्ति की चाल सीधी नहीं, वक्र एवं घुमावदार है। उसके विकास की चारों प्रक्रियाएँ भी इसी वक्रगति से चक्कर लगाती हुई आगे बढ़ती रहती हैं अर्थात् संयोजन > संप्रेषण > द्रवण > अभिव्यक्ति > संयोजन > संप्रेषण > द्रवण का चक्र तब तक चलता रहता है जब तक कि शक्ति सक्रिय रहती है।

८.८. शक्ति का लक्ष्य पूर्णता, शान्ति, साम्य एवं संतुलन—

जैसा कि हमने पीछे बताया है, आकर्षण शक्ति की उद्दीप्ति या जागृति उसके घटक तत्त्वों में किसी प्रकार की न्यूनता, वैषम्य, या असतुलन उपस्थित होने पर होती है—जब वह इस न्यूनता वैषम्य या असतुलन को दूर कर लेती है तो पुनः शान्त हो जाती है। शक्ति की सक्रिय अवस्था मे उसका लक्ष्य बराबर इसी ओर अग्रसर होने का रहता है। उदाहरण के लिए किसी भी भौतिक पदार्थ मे जितनी संख्या में प्रोटान होते है उतनी ही सख्या मे उसमे इलैक्ट्रान रह सकते है ; जब उसमे इनकी संख्या बराबर-बराबर रहती है तो उसकी शक्ति शान्त रहती है, किन्तु इस संख्या में वैषम्य उपस्थित होने पर जितने इलैक्ट्रान कम होते है उतने वह और ग्रहण कर लेता है, या अधिक होने पर उन्हें त्याग देता है—अतः जब तक इस अभाव की पूर्ति या इस वैषम्य एवं 'असतुलन का निराकरण नही हो जाता विद्युत् शक्ति गतिशील रहती है। इसी प्रकार चुम्बक मे भी उत्तरी एवं दक्षिणी छोरों के मिला देने पर शक्ति शान्त हो जाती है। जीव-विज्ञान में भी जीवन-शक्ति के विभिन्न रूप अपेक्षित मात्राकी पूर्ति एवं अनपेक्षित के निष्कासन में प्रवृत्त रहते हैं। हमारी काम-वासना, क्षुधा, प्यास आदि सभी शारीरिक प्रवृत्तियाँ हमारे शरीर की विभिन्न आवश्कताओं की पूर्ति के लिए शक्ति द्वारा किये गये विभिन्न प्रयासों को सूचित करती है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन शक्ति की तीसरी प्रवृत्ति के प्रसग मे किया जा चुका है—अतः यहाँ निष्कर्ष रूप मे इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आकर्षण शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ओर, वैषम्य से साम्य की ओर, असंतुलन से सतुलन की ओर, उद्दीप्ति से शान्ति की ओर ही अग्रसर होने का रहता है—जब तक वह अपने इस लक्ष्य को प्राप्त नही कर लेती तब तक वह सदा सक्रिय, गतिशील एवं प्रयत्नशील रहती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि आकर्षण शक्ति विभिन्न स्तरो पर विभिन्न रूपों में कार्य करती है किन्तु उसके प्रायः सभी रूपों में उपर्युक्त प्रवृत्तियो की दृष्टि से गहरा साम्य है। साहित्य की आकर्षण-शक्ति का स्तर एवं रूप अत्यन्त सूक्ष्म होता है पर उसमे उपर्युक्त सारी प्रवृत्तियाँ मिलती है—यह आगे स्पष्ट किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार विभिन्न प्राणियो के बाह्य रूप आकार आदि में परस्पर गहरा अन्तर होते हुए भी उनकी अन्तःर्वातिनी जीवन-शक्ति मूलतः एक ही मानी जाती है वैसे ही हम आकर्षण शक्ति के भी विभिन्न रूपों के मूल में एक ही शक्ति का अस्तित्व मान सकते है। आधुनिक विज्ञान ने शक्ति के अनेक रूपों को दूसरे रूपों में परिर्वातित करके तथा एक रूप से दूसरे रूप के विकासवाद कोस्वीकार करके इस तथ्य की भली-भाँति पुष्टि कर दी है। डारविन एवं आइन्स्टाइन की मान्यताएँ इसके प्रमाण-स्वरूप देखी जा सकती है।

९

साहित्य में

आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा

●

पीछे भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान, आदि के आधार पर आकर्षण-शक्ति के विभिन्न रूपों और उनकी सामान्य प्रवृत्तियो का विवेचन किया जा चुका है। अब हम साहित्य में आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करते हुए उसके आधार पर साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियो के अनुशीलन का प्रयास करेगे।

९.१. साहित्य में आकर्षण-शक्ति का अस्तित्व—

वैसे तो प्रस्तुत अध्ययन के आरम्भ में काव्यात्मा सम्बन्धी विभिन्न मतों के विश्लेषण से यह स्पष्ट किया जा चुका है कि रस, अलकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, अनुकृति, उदात्त आदि सम्प्रदाय अन्ततः सौन्दर्य या आकर्षण को ही काव्य की आत्मा या साहित्य की शक्ति स्वीकार कर लेते है। किन्तु यह स्वीकृति अप्रत्यक्ष है, अतः कदाचित् अधिक प्रामाणिक न मानी जाय। यद्यपि इससे पूर्व साहित्य-शास्त्र में प्रत्यक्ष रूप से आकर्षण सिद्धान्त की स्थापना या प्रतिष्ठा का कोई प्रयास उपलब्ध नहीं होता, फिर भी यह आश्चर्य की बात है कि विभिन्न युगों में विभिन्न विद्वान् साहित्य-चर्चा के प्रसंग में 'आकर्षण' शब्द का प्रयोग बराबर करते रहे हैं। उन्होंने सहज रूप में ही साहित्य की अन्तर्निहित शक्ति को आकर्षण की संज्ञा दी है। प्रमाण-स्वरूप कुछ मत द्रष्टव्य हैं—

(१) **प्लेटो**—"(काव्य की) मिश्रित शैली निश्चित ही **आकर्षक** होती है।"[१] "मित्र ! क्या तुम उसके (कविता के) **रहस्याकर्षण** को अनुभव नही करते।"[२]

---

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र, पृ० १२।
२. वही, पृ० २३।

(२) **लोंजाइनस**—"पाठक कुछ तो घटनाओं के **चयन से आकर्षित** होता है और कुछ उनके पारस्परिक संघटन-कौशल से ।"[3]

(३) **होरेस**—"कविताओं का सुन्दर होना ही पर्याप्त नहीं, वे आकर्षक भी होनी चाहिए—उनमें ऐसी शक्ति होनी चाहिए कि श्रोता के मन को जिधर चाहे खीचले ।"[४]

(४) **दमित्रियस**—"प्रायः विषय-वस्तु आकर्षण-हीन और विकर्षक होती है, किन्तु उसे लेखक अपनी चारुता का स्पर्श प्रदान करता है ।"[५]

(५) **क्विण्टिलियन**—"अलंकारो की सबसे बड़ी शक्ति अभिभाषण को आकर्षण युक्त बना देना है ।"[६]

(६) **बुअलो**—"तुम जो कुछ लिखो उसमें सावधानी और कलात्मकता से भावो के उद्रेक का और हृदय को आकर्षित करने का ध्यान रक्खो ।"[७]

(७) **पोप**—"तब समालोचना कविता की सखी (सिद्ध) हो गई—उसका काम हुआ कविता-श्री को मडित करना तथा उसे और भी अधिक आकर्षक बनाना ।"[८]

(८) **कॉलरिज**—"(सच्ची कविता मे) पाठक केवल उत्सुकता के यात्रिक आवेग की प्रेरणा से या अन्तिम समाधान तक पहुँचने की उद्वेगमयी इच्छा से नही, बल्कि पाठ्य के आकर्षण से जन्य मानसिक सुख की उपलब्धि के लिए आगे बढ़े—तब बात है ।"[९]

(९) **मैथ्यू आर्नल्ड**—"(नाटक की विषय-वस्तु में) होना यह चाहिए कि स्वयं कार्य बराबर हमारे आकर्षण का केन्द्र-बिन्दु रहे, उसमे हमारी चित्तवृत्तियाँ रमी रहें, जिससे किसी गौण उपादान द्वारा दर्शक का ध्यान एक क्षण के लिए भी उससे विरत न हो ।"[१०]

---

3. "The reader is attracted partly by the selection of the incidents, partly by the skill which has welded them to-gether." On the sublime, Page 287.
४. 'काव्य-कला' हिन्दी अनुवाद, पृ० २६ ।
5. "Often the subject matter is naturally unattractive and even repulsive, but a touch of brightness is added by the writer."
—On style, Page 232.
6. "……the greatest power cf figures is to render oratory attractive"—A History of Criticism : G. Sainstsbury, vol I, Page 302.
७. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र, पृ० ६१ ।
८. वही, पृ० ६८ ।
९. वही, पृ० १६४ ।
१०. वही, पृ० १६६ ।

(१०) **वाल्टर पेटर**—"जिस प्रकार सहजता में आकर्षण है, उसी प्रकार अध्यवसाय, प्रयास, अन्वेषण में भी अपना विशिष्ट आकर्षण होता है—वे सब शैली के निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर गतिशील होते है........ ।"[११]

भारतीय मत—

(११) **भामह**—'शब्द-रचना की चतुराई जितनी **चित्ताकर्षक** होती है उतनी अर्थालंकार की नहीं ।"[१२]

(१२) **दंडी**—"महा काव्य के उपरिवर्णित अंगों में से किसी की न्यूनता होने पर भी यदि उसमें प्रतिपाद्य विषय-वस्तु की रूप-संपत्ति का गुण-सौन्दर्य सहृदय काव्य-रसिकों के चित्त को आकृष्ट कर लेता है तो वह काव्य दूषित नही होता है ।"[१३]

(१३) **श्री हर्ष**—"हे वैदर्भी (श्लेष—वैदर्भी रीति और विदर्भ-कुमारी) ! तू सचमुच धन्य है जिसने अपने उदार गुणों से नैषध को आकृष्ट कर लिया ।"[१४]

(१४) **रुय्यक**—"वाक्य का अर्थभूत व्यंग्य ही काव्य का जीवन है, यही पक्ष वाक्यार्थ-कोविद सहृदय पुरुषों का आकर्षक है ।"[१५]

(१५) **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**—"इनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगो को बहुत आकर्षित करता था ।"[१६]

(१६) **डा० श्यामसुन्दर दास**—"अलंकार का प्रयोजन उस अंग विशेष को अधिक आकर्षक बना देना है जिस पर वह धारण किया जाय ।"[१७]

(१७) **डा० गुलाबराय**—"कबीर के प्रति रवीन्द्रनाथ के आकर्षण के कई कारण थे, लेकिन मुख्य विषय उनका रहस्यवादी होना ही कहा जा सकता है ।"[१८]

(१८) **डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी**—"कविता का वातावरण, मानवता के प्रति अटूट विश्वास, गीतिकाव्यात्मक पात्रो की आयोजना ... ...उनके (प्रसाद के) नाटकों के आकर्षक तत्त्व है ।"[१९]

(१९) **डा० नगेन्द्र**—"(काव्य में) घटना हमको निश्चय ही आकृष्ट करती

---

११. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा : डा० नगेन्द्र, पृ० २२९ ।
१२. भारतीय काव्य-शास्त्र की परंपरा : पृ० ३५ ।
१३. वही, पृ० ४८ ।
१४. नैषध चरित, ३।११६ ।
१५. भारतीय का० शा० परंपरा, पृ० ३२९ ।
१६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ७९ ।
१७. साहित्यालोचन, पृ० ।
१८. हिन्दी-साहित्य का सुबोध इतिहास ।
१९. हिन्दी साहित्य, पृ० ४३९ ।

है। "....किन्तु इस आकर्षण का रहस्य घटना की क्रिया-प्रतिक्रिया मे न होकर उसमें निहित मानव तत्त्व एव भाव मे ही होता है।"[२०]

(२०) **श्री सुमित्रानन्दन पन्त**—"भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का प्राण राग है। राग का अर्थ है आकर्षण ; यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते है।"[२१]

यहाँ विभिन्न युगों के कुछ साहित्यकारो के ही मत उद्धृत किये जा सके है किन्तु वास्तविकता यह है कि साहित्य-चर्चा के प्रसग मे उसकी मूल शक्ति के अर्थ मे 'आकर्षण' या उसके पर्यायवाची शब्दो का प्रयोग प्रायः सदा होता रहा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त उक्तियो मे 'आकर्षण' का उल्लेख साहित्य के किसी एक पक्ष या एक अग के ही प्रसंग मे नही हुआ है, अपितु उसके विभिन्न रूपों, तत्त्वों, अंगों, विषय, शैली आदि सभी के प्रसग मे हुआ है। अस्तु, आकर्षण सिद्धान्त का पहले से प्रचलन न होते हुए भी हमारे इन साहित्यकारो ने साहित्य की सर्व व्यापी शक्ति के रूप में आकर्षण को मान्यता सहज-रूप में ही प्रदान करदी है। अतः इस सम्बन्ध मे अधिक प्रमाण देना हम अनावश्यक समझते है।

६.२. आकर्षण शक्ति की त्रिगुणात्मकता—

आकर्षण शक्ति का संगठन सदा त्रिगुणात्मक तत्त्वों के द्वारा होता है—यह बात साहित्य की आकर्षण-शक्ति पर भी लागू होती है। साहित्य का स्थूल माध्यम भाषा है। भाषा के तीन पक्ष माने जा सकते है—(१) ध्वनि (२) रूप और (३) अर्थ। साहित्य मे भाषा के इन तीनो ही पक्षो का समावेश होता है किन्तु इनमें से उसका केन्द्रीय पक्ष **अर्थ** ही है। अर्थ का भी विश्लेषण करे तो उसमे भी तीन भेद मिलेगे—(१) वाच्यार्थ (२) लक्ष्यार्थ और (३) व्यग्यार्थ। वाच्यार्थ सबसे अधिक हलका होता है, लक्ष्यार्थ उससे अधिक प्रभावशाली होता है और व्यग्यार्थ सबसे अधिक गंभीर एवं प्रभावशाली होता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है एटम, चुम्बक, विद्युत् आदि के केन्द्रीय तत्त्व या उदासीन तत्त्व की भाँति व्यग्यार्थ भी सदा सक्रिय नही रहता है, वह विशेष परिस्थितियों में ही उद्दीप्त होता है—किन्तु जब भी वह उद्दीप्त होता है तो उसका प्रभाव वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से उसी प्रकार कई गुना अधिक होता है जिस प्रकार न्यूट्रान का प्रभाव इलैक्ट्रान एवं प्रोटान से कई गुना अधिक होता है। अतः हम चाहे तो वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यग्यार्थ को भाषा रूपी एटम के क्रमशः इलैक्ट्रान, प्रोटान एवं न्यूट्रान मान सकते हैं। जिस प्रकार इलैक्ट्रान सर्वदा, गतिशील होता है, वैसे ही वाच्यार्थ का बोध या प्रचलन सामान्यतः सर्वत्र होता है ; जिस प्रकार प्रोटान न्यूट्रान के समीप रहता है तथा इलैक्ट्रान की गति में बाधा उपस्थित होने पर उद्दीप्त

२०. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : भूमिका, पृ० ६७।
२१. भारतीय का० शा० परंपरा, पृ० ५५१।

होता है, वैसे ही लक्ष्यार्थ व्यंग्यार्थ के समीप पड़ता है और अभिधेयार्थ में बाधा उपस्थित होने पर व्यक्त होता है। सदा सोये रहने वाले, किन्तु शिव के तीसरे नेत्र की भाँति कभी-कभी दृष्टि उन्मीलन करने वाले परमाणु-स्थित न्यूट्रान एवं भाषा-स्थित व्यंग्यार्थ में भी परस्पर गहरा प्रकृति-साम्य है; अतः ये भी उपर्युक्त रूपक में कोई बाधा उपस्थित नहीं करते। साहित्य की भाषा में वाच्यार्थ की अपेक्षा लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की ही प्रमुखता मानी गई है—इसी लिए वह सामान्य भाषा की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली एवं आकर्षक होती है।

भाषा के द्वारा सूच्य अर्थ को उसके विषय के अनुसार मुख्यतः तीन वर्गो —(१) तथ्य या विचार (२) अनुमान एवं कल्पना (३) भाव या अनुभूति—में विभाजित कर सकते है। साहित्य की विषय-वस्तु में इन तीनो प्रकार के तत्त्वों की सत्ता होती है—इस सम्बन्ध में हम विस्तृत विवेचन अन्यत्र करेंगे—किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्व भाव या अनुभूति का ही होता है। इन तीनो तत्त्वो को क्रमशः प्रोटान, इलैक्ट्रान एव न्यूट्रान की उपमा दी जा सकती है क्योकि विचार प्रोटान की भाँति स्थिर होता है, कल्पना इलैक्ट्रान की भाँति चंचल और गतिशील होती है जब कि भाव न्यूट्रान की भाँति सामान्य भाषा में अव्यक्त एवं निःस्पन्द रूप मे स्थित रहता है। जहाँ विचार और कल्पना की अभिव्यक्ति भाषा मे सहज होती है, वहाँ भावो को व्यक्त करना बहुत कठिन होता है। जब व्यक्ति शान्त होता है तो उस समय उसे विचार या कल्पना सूझती है, किन्तु जब वह भावोद्वेलित होता है तो प्रायः उसकी वाणी मौन या असयत हो जाती है। यह स्थिति भी बिल्कुल 'न्यूट्रान' की सी है—या तो वह उद्दीप्त नही होता, और उद्दीप्त होता है तो उसे वश में रखना कठिन है। इसी लिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक समय—जब कि भाव का विषय एवं तत्सम्बन्धी परिस्थितियाँ व्यक्ति के सामने न हो भाव की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति करना कठिन है। कवि या साहित्यकार में यह क्षमता विशेष रूप से होती है—अतः वह अव्यक्त भाव की शक्ति को विचार एवं कल्पना—चिन्तन एवं भावना—के द्वारा उद्दीप्त करके संयत भाषा में व्यक्त कर पाता है। अस्तु, साहित्य में विचार, कल्पना और भाव—तीनो की सत्ता रहती है, किन्तु उनमे प्रमुख या केन्द्रीय तत्त्व भाव ही होता है। शैली की दृष्टि से साहित्य रूपी शिव का तीसरा नेत्र व्यंग्यार्थ है तो विषय की दृष्टि से वह भाव तत्त्व है, जिसके उन्मीलित होने पर साहित्य में शक्ति का संचार होता है।

६.३. विरोधी तत्वों के संपर्क से शक्ति की उद्दीप्ति—

आकर्षण शक्ति की तीसरी प्रवृत्ति यह कि वह एक ही स्तर के विभिन्न विरोधी जाति के तत्त्वों के संपर्क से उद्दीप्त होती है—यह बात साहित्य पर भी लागू होती है। साहित्य में विचार और अनुभूति, तथ्य और कल्पना, सत्य और मिथ्या,

स्वाभाविक और विचित्र, आदर्श और यथार्थ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ जैसे परस्पर विरोधी तत्त्वों के संपर्क से ही उसकी आकर्षण शक्ति उद्दीप्त होती है। जिस प्रकार केवल विचार, तथ्य, सत्य, आदर्श आदि से साहित्य में आकर्षण उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार कोरी अनुभूति, कोरी कल्पना एव कोरे यथार्थ से भी ऐसा नहीं हो सकता। दोनो ही पक्षों की उपस्थिति एव उनका सपर्क अपेक्षित है। प्रमाण-स्वरूप विभिन्न कवियों की कुछ उक्तियाँ द्रष्टव्य है—

(१) नहि परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकासु इहि काल।
अली, कली ही सौ बंध्यौ, आगे कौन हवाल ॥

—बिहारी

(२) झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि ह्वै।
हँसि बोलनि मै छवि-फूलन की बरषा, उर ऊपर जाति है ह्वै ॥
लट लोल कपोल कलोल करै, कल-कंठ बनी जल जावलि द्वै।
अंग-अग तरग उठे दुति की, परि है मनौ रूप अबै धर च्वै ॥

—घनानन्द

(३) मृग मरीचिका के चिर पथ पर,
सुख आता प्यासों के पग धर,
रुद्ध हृदय के पट लेता कर,
गर्वित कहता 'मैं मधु हूँ, मुझसे क्या पतझर का नाता !'

—महादेवी

उपर्युक्त उदाहरणो का विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि इनमें क्रमशः वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ, तथ्य और कल्पना, विचार और भाव जैसे विरोधी तत्त्व एक साथ विद्यमान है। बिहारी के दोहे में वाच्यार्थ यदि अली, कली और पराग की कहानी कहता है तो व्यग्यार्थ किसी रसिक नरेश और उसकी नववयस्का पत्नी के अर्द्ध विकसित लावण्य का सकेत देता है। इस दोहे का पूर्ण आस्वादन वही व्यक्ति कर सकता है जो वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनो को हृदयगम कर पाता है—जो इनमें से किसी भी एक को ग्रहण नही कर पाता है, वह इसके सौन्दर्य से अवगत नही हो सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं अन्य कतिपय विद्वानो ने एक बार प्रश्न उठाया था कि काव्यत्व का अधिवास वाच्यार्थ में है या व्यग्यार्थ में ? कुछ ने वाच्यार्थ के पक्ष में मत दिया था तो कुछ ने व्यग्यार्थ के पक्ष में। इस सम्बन्ध में आकर्षण-सिद्धान्त का उत्तर होगा—न वाच्यार्थ में और न व्यंग्यार्थ में। जिस प्रकार नर और मादा—दोनो विरोधी तत्त्वों की उपस्थिति से उनकी यौन-शक्ति उद्दीप्त होती है; इसका श्रेय किसी एक को नहीं दिया जा सकता; वैसे ही वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनों की सह-स्थिति से ही काव्य की आकर्षण-शक्ति उद्दीप्त होती है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण को लीजिए—इसमें 'नायिका सुन्दर है' इस तथ्य की व्यंजना कल्पना के

साहचर्य से की गई है। "अंग-अंग तरंग उठे दुति की, परि है मनौ रूप अबै धर च्वै !" में नायिका का सौन्दर्य तथ्य है तो उसके रूप के धरती पर चू पड़ने की बात कोरी कल्पना है। यहाँ भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि इस पक्ति का सौन्दर्य या आकर्षण तथ्य में है या कल्पना में ? हमारे विचार से यदि कोरा तथ्य होता है या कोरी कल्पना होती है तो आकर्षण की उद्दीप्ति नही हो पाती—दोंनो के सपर्क से ही ऐसा हुआ है। बिहारी जब कोरी कल्पना के बल पर सौन्दर्य-वर्णन करने लगते है—जैसे, 'नित प्रति पून्यों ही रहै, आनन-ओप उजास'—तो वहाँ आकर्षण की उद्दीप्ति नही होती।

तीसरे उदाहरण में कवयित्री महादेवी ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि सुख मे व्यक्ति की इच्छाएँ बढती जाती है और उसका हृदय संकीर्ण हो जाता है—किन्तु यहाँ यह विचार भावना के साथ प्रस्तुत हुआ है—इसी से यह आकर्षक बन सका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य या साहित्य में परस्पर विरोधी तत्त्व एक साथ विद्यमान रहते है। अनेक विचारकों ने विरोधी तत्त्वो के एक ही पक्ष को साहित्यिकता का आधार सिद्ध करने का प्रयास किया है—जैसे, किसी ने स्वाभाविकता पर बल दिया है तो किसी ने वैचित्र्य पर ; किसी ने तथ्यो पर बल दिया तो किसी ने कल्पना पर, किसी ने यथार्थवाद का समर्थन किया तो किसी ने आदर्शवाद का—किन्तु हमारे निष्कर्ष के अनुसार इनमें से किसी एक की भी पूर्ण उपेक्षा नही की जा सकती। साहित्य की आकर्षण-शक्ति की उद्दीप्ति के लिए उभय पक्षी गुणो की उपस्थिति अनिवार्य है।

यहाँ एक भ्रान्ति हो सकती है कि उभय पक्षी तत्त्वों की उपस्थिति का तात्पर्य उभय पक्षी तत्त्वों का पूर्ण समन्वय लिया जा सकता है, जो ठीक नही। यह ध्यान रहे कि जब विरोधी तत्त्वो में पूर्ण समन्वय हो जाता है या वे मिलकर पूर्णतः एकाकार हो जाते है तो शक्ति उसी प्रकार शान्त, सुषुप्त एवं निष्क्रिय हो जाती है जिस प्रकार चुम्बक के दो विरोधी छोरों को मिलाकर पूर्णतः एक कर देने पर उसकी आकर्षण शक्ति लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार साहित्य मे भी जब दो विरोधी तत्त्वों की परिणति एक ही सत्ता के रूप में हो जाती है तो वहाँ भी उसकी शक्ति लुप्त हो जाती है। इसे हम उदाहरणो से स्पष्ट करते है—"अंग-अग तरग उठे दुति की, परि है मनौ रूप अबै धर च्वै" में तथ्य और कल्पना दोनों का हमें पृथक-पृथक आभास मिलता है ; हम जानते हैं कि इसमें तथ्य कितना है और कल्पना कितनी। किन्तु यदि हम इस उक्ति मे निहित तथ्य और कल्पना—दोनो को पूर्णतः अद्वैत रूप दे देगे तो वह या तो कोरा विचार बन जायगा, या कोरी कल्पना। तथ्य और कल्पना के पूर्ण समन्वय से उन्हें एक तीसरा रूप भी प्राप्त होता है, जिसे 'अनुमान' कह सकते हैं—जैसे "वहाँ धुआ उठ रही है इसलिए वहाँ आग होनी चाहिए।" वस्तुतः इस

प्रकार के अनुमान दर्शन और विज्ञान में काम देते हैं—साहित्य में नही। अतः साहित्य में उपर्युक्त विरोधी तत्वों का सपर्क एव सान्निध्य उसी सीमा तक अपेक्षित है जहाँ तक वे पूर्णतः एकाकार नही हो जाते।

६.४. शक्ति की चार प्रक्रियाएँ—

जैसा कि पिछले अध्याय मे स्पष्ट किया जा चुका है—आकर्षण शक्ति के कार्य-क्रम या विकास-क्रम को चार प्रक्रियाओं—सयोजन, सप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति—के रूप में विभाजित किया जा सकता है। साहित्य मे भी आकर्षण-शक्ति की ये चारों प्रक्रियाएँ मिलती है। इनकी आवृत्ति एक ओर साहित्य-सृजन के समय साहित्यकार के मानस मे होती है तो दूसरी ओर साहित्य का आस्वादन करते समय पाठकों के मन मे भी होती है। जब साहित्यकार की सृजन-शक्ति किसी विषय की ओर आर्कषित होती है, या यो कहिये कि जब कोई विषय, विचार या भाव साहित्यकार को साहित्य-रचना के लिए आर्कषित या प्रेरित करता है तो वह अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। साहित्यकार की रचना-शक्ति का किसी विषय की ओर आर्कषित होकर उसमें प्रवृत्त हो जाना ही, शक्ति की सयोजन प्रक्रिया है क्योकि इसमे व्यक्ति का विषय से सयोजन हो जाता है। तदनन्तर साहित्यकार चिन्तन एव कल्पना के द्वारा उक्त विषय को अपने मन मे भली भाँति सवेदित, प्रेषित या सप्रेपित करता है—यही शक्ति की दूसरी प्रक्रिया या सप्रेषण की प्रक्रिया है। विषय के सम्यक् संप्रेषण से साहित्यकार की रचना-शक्ति द्रवित हो उठती है और उसकी लेखनी चल पड़ती है ; वस्तुतः यही से उसकी अभिव्यक्ति आरम्भ हो जाती है। इस प्रकार साहित्यकार की रचना-शक्ति अनेक बार सयोजन, सप्रेषण, द्रवण एव अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं में से गुजरती हुई साहित्य का सृजन करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि साहित्य की ही भाँति अन्य कलाओ मे भी आकर्षण शक्ति की उपर्युक्त चारो प्रक्रियाओं की आवृत्ति होती है—अन्तर केवल अभिव्यक्ति के रूप एव माध्यम का है। द्रवण के अनन्तर जिसे साहित्यकार शब्दो के माध्यम से व्यक्त करता है, चित्रकार उसी को रेखाओ के माध्यम से, नृत्यकार गति के माध्यम से एव अभिनेता उसे चेष्टाओ के माध्यम से व्यक्त करता है। इस प्रकार विभिन्न क्षेत्रों के कलाकार मूल विषय को (या विज्ञान की भाषा मे द्रव्य को) आत्म-सात् करके उसे विभिन्न माध्यमों से विभिन्न रूपों मे व्यक्त करते है।

साहित्य के आस्वादन के समय उपर्युक्त प्रक्रियाओ की आवृत्ति पाठकों के मन में भी होती है। साहित्य के रूप मे प्रस्तुत विषय सर्वप्रथम पाठक के मन मे रुचि, जिज्ञासा, कौतूहल आदि उत्पन्न करता है, जिससे कि वह विषय मे प्रवृत्त होता है। जैसा कि हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है—रुचि, जिज्ञासा, कौतूहल आदि आकर्षण के ही विभिन्न भेद है। रुचि यदि भावात्मक आकर्षण का एक रूप है तो जिज्ञासा,

कौतूहल आदि बौद्धिक आकर्षण के प्रारम्भिक रूप है। अतः इन सबको हम एक ही सामान्य नाम—आकर्षण से पुकारते हुए कह सकते है कि सर्वप्रथम पाठक विषय से आकृष्ट होकर उसमें प्रवृत्त होता है, या उससे अपना मानसिक सम्बन्ध स्थापित करता है। यही आकर्पण शक्ति की प्रथम प्रक्रिया—सयोजन की प्रक्रिया है। इसके अनन्तर पाठक का विषय के साथ तादात्म्य स्थापित होता है, जिसे हम सप्रेषण की प्रक्रिया कह सकते है। तदनन्तर विषय के अनुसार पाठक का मन प्रफुल्लित, आप्लावित या द्रवित होता हुआ अपनी इस अनुभूति को विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है। कही यह अभिव्यक्ति ताली बजाकर की जाती है, कही 'वाह ! वाह !' की ध्वनि के रूप मे, कही अश्रु-मोचन, हास्य आदि सात्विक भावो के रूप में होती है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जब उसी विषय के आकर्षण, संप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यजन व्यापार से साहित्यकार एक नई कृति की रचना कर पाता है तो पाठक भी वैसा क्यो नही कर पाता ? अर्थात् पाठक किसी रचना को पढ़कर नई रचना का सृजन क्यों नही कर पाता ? इसका उत्तर है—यह साहित्य की सृजन-शक्ति एवं पाठक की ग्रहण-शक्ति का अन्तर है। यदि पाठक में भी सृजन की पर्याप्त क्षमता हो तो वह भी उसी विषय को नया रूप दे सकता है। उदाहरण के लिए गाथा-सप्तशती के अनेक प्रसंगों को बिहारी ने नये रूप मे व्यक्त किया है या राम-चरित को अनेक भारतीय कवियों ने नई-नई कृतियो के रूप मे प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार समीक्षक या आलोचक भी अपनी आलोचनाओं में अपनी इसी द्रवित अनुभूति को नये रूप मे अभिव्यक्त करता है। अतः हमारा प्रतिपाद्य यही है कि जिस प्रकार द्रवित मोम को अपने विशेष साधनों के कारण कुछ लोग सुन्दर आकृतियो मे ढाल पाते है, वहाँ अधिकाँश लोग उन साधनों या क्षमताओ के अभाव मे उसे वैसे ही बहा देते है—कोई आकर्पक रूप उसे नही दे पाते, इसी प्रकार सभी पाठक भी अपनी अनुभूति को शक्ति के अभाव मे नई रचना का रूप नही दे पाते। अस्तु, अभिव्यक्ति चाहे जिस रूप मे हो—किन्तु यह निर्विवाद है कि साहित्य-रचयिता और साहित्य के पाठक दोनो के मन मे ही शक्ति की चारों प्रक्रियाओ की आवृत्ति होती है। यह दूसरी बात है कि न्यून-शक्ति वाली असफल कृतियों में या पाठक की विशेष न्यूनता के कारण इन प्रक्रियाओ की आवृत्ति पूर्णतः न हो पाये।

६.५. आकर्षण शक्ति के विभिन्न स्तर—

आकर्षण शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपो मे कार्य करती है—इसे स्पष्ट करते हुए पिछले अध्याय मे इसके तीन प्रमुख स्तर—भौतिक, शारीरिक एवं मानसिक—निर्धारित किये गये थे। साहित्य की आकर्षण शक्ति का सम्बन्ध मानसिक स्तर से है। इस मानसिक स्तर को भी हम मुख्यतः तीन उप-स्तरों में विभाजित कर सकते है—(१) ऐन्द्रिक स्तर (२) बौद्धिक स्तर (३) भावात्मक स्तर। ऐन्द्रिक स्तर पर हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ विभिन्न बाह्य पदार्थों के रूप, रंग, रस, गंध आदि से

आकर्षित-विकर्षित होती है। बौद्धिक स्तर पर हमारी बुद्धि विभिन्न पदार्थो एवं विषयों के सूक्ष्म गुणो, विचारों एवं सिद्धान्तो के प्रति आकर्षित-विकर्षित होती है तथा भावात्मक स्तर पर हमारी चेतना का विभिन्न विषयो से भावात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है। जैसा कि अन्यत्र स्पष्ट किया जा चुका है—इन तीनो स्तरों पर हमारी मानसिक शक्ति क्रमशः इन्द्रिय, बुद्धि एवं सवेदन शक्तियों के आकर्षण-विकर्षण के रूप में कार्य करती है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि एक स्तर का आकर्षण परिस्थितियो के अनुसार दूसरे स्तर के आकर्षण की उद्दीप्ति या शान्ति में साधक या बाधक भी बन सकता है—क्योंकि ये सभी मूलतः एक ही स्तर—मानसिक स्तर—के ही उपभेद है। कई बार एक ही वस्तु के प्रति विभिन्न स्तरों पर विरोधी प्रतिक्रिया भी होती है—जैसे एक व्यक्ति सुन्दर वेश्या के प्रति ऐन्द्रिक स्तर पर आकर्षण अनुभव कर सकता है तो बौद्धिक स्तर पर उसके प्रति विकर्षण—ऐसी स्थिति मे दोनों स्तरों के आकर्षण—विकर्षण मे द्वन्द्व होता है, तथा जो अधिक सबल होता है, उसी की अन्त में विजय होती है। सामान्यतः ऐन्द्रिक स्तर से बौद्धिक स्तर एव बौद्धिक स्तर से भावात्मक स्तर अधिक उच्च एवं सबल होता है, अतः ऐन्द्रिक आकर्षण से बौद्धिक आकर्षण, एव बौद्धिक से भावात्मक आकर्षण अधिक प्रबल होता है। जो विषय हमारी इन्द्रियों, बुद्धि और मन (सवेदना) तीनो को आकर्षित करता है—वह उस आकर्षण से अधिक प्रबल होता है, जो इनमे से किसी एक या दो स्तरो को ही प्रभावित करता है। उच्चकोटि की कलाओ एव साहित्यिक रचनाओ मे तीनो स्तरो को ही प्रभावित करने की क्षमता होती है। इसे हम आगे स्पष्ट करते है।

चित्र-कला मे रग-रूप का तथा सगीत-कला मे नाद का आकर्षण होता है, जो क्रमशः हमारी चक्षुरिन्द्रिय एव श्रवणेन्द्रिय को प्रभावित करता है। कविता मे छन्द, लय, गीति, अनुप्रास, यमक आदि का आकर्षण होता है जो हमारी श्रवणेन्द्रिय को तृप्ति प्रदान करता है। इसे हम ऐन्द्रिक स्तर का आकर्षण मान सकते है। किन्तु ऐन्द्रिक आकर्षण की क्षमता से ही कोई चित्र, सगीत या काव्य उच्चकोटि की कला का रूप प्राप्त नही कर सकता—वह ऐन्द्रिक प्रभावो के साथ-साथ हमारा ध्यान किसी विषय, विचार, या घटना की ओर आकर्षित करता है। इसी को हम बौद्धिक आकर्षण कह सकते है। साहित्य में रचनाओ के कुछ प्रकार ऐसे होते है, जिनमे बौद्धिक आकर्षण की ही प्रमुखता होती है। उदाहरण के लिए हमारी जिज्ञासा की उद्दीप्ति करने वाले जासूसी उपन्यास, कौतूहल उत्पन्न करने वाले आश्चर्यपूर्ण वृतान्त, एवं विचारों को तरंगित एव चिन्तना को उद्वेलित करने वाले निबन्ध—ये सब बौद्धिक आकर्षण की ही उद्दीप्ति करते है। सम्भवतः यहाँ शंका की जाय कि जिज्ञासा, कौतूहल, चिन्तना—आदि भाव है अतः इसे हम बौद्धिक आकर्षण न कहकर भावात्मक आकर्षण क्यों न कहे ? इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि वैसे तो प्रत्येक भाव में बुद्धि का थोड़ा बहुत अंश, और प्रत्येक बौद्धिक विचार में भाव की थोड़ी-बहुत

मात्रा अवश्य होती है—दोनों का थोडा-बहुत मिश्रण तो प्रत्येक स्थिति में होता है, किन्तु उनका वर्गीकरण उनमे निहित तत्त्व की प्रमुखता के आधार पर ही किया जाता है। जिज्ञासा, कौतूहल, चिन्तना में बौद्धिक आकर्षण अधिक होता है, अनुभूति जन्य आकर्षण कम। अत: इन्हे भावात्मक स्तर के आकर्षण की अपेक्षा बौद्धिक स्तर के आकर्षण मे ही स्थान देना अधिक उचित है। इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्टीकरण हम अन्यत्र मानसिक तत्त्वो के वर्गीकरण मे करेगे।

साहित्य मे तीसरे स्तर का आकर्षण भावात्मक स्तर का आकर्षण होता है। वस्तुत: साहित्य में इसी की प्रमुखता होती है। जो विषय ऐन्द्रिक एव बौद्धिक स्तर की दृष्टि से आकर्षण-हीन या विकर्षक होते है—वे भी भावात्मकता के कारण कई बार आकर्षक हो जाते है। एक कुरूप, वृद्ध एव अर्द्धनग्न व्यक्ति के प्रति जहाँ ऐन्द्रिक दृष्टि से हम विकर्षित होते है, वहाँ सहानुभूति की प्रेरणा मे उसके प्रति आकर्षित हो जाते हैं। सहानुभूति, करुणा, श्रद्धा आदि व्यापक भावो की प्रेरणा से हम ऐसे विषयो मे भी प्रवृत्त होते है जिनमे हमारी इन्द्रियो और बुद्धि की जरा भी रुचि नही होती। इसी लिए अनेक प्राचीन एव आधुनिक आचार्यो ने साहित्य की विषय-वस्तु मे भावो को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। इनका विस्तृत विश्लेषण हम साहित्य के द्रव्य की मीमासा करते समय करेगे—यहाँ हमारा प्रतिपाद्य केवल इतना ही है कि साहित्य में भावों (अनुभूतियो, सवेदनाओ, भावनाओ) के चित्रण से उनमें भावात्मक स्तर के आकर्षण की क्षमता आती है तथा ऐन्द्रिक एव बौद्धिक स्तर की अपेक्षा इस स्तर का आकर्षण अधिक प्रबल होता है।

मानसिक स्तर के उपर्युक्त उपभेद उनके गुण-भेद के आधार पर किये गये है—उनकी मात्रा-भेद या सघनता के आधार पर नही। उनकी मात्रा-भेद या सघनता की दृष्टि से भी इनमे से प्रत्येक के तीन-तीन उप-भेद किये जा सकते है—(१) चेतन स्तर, (२) उप चेतन स्तर, (३) अचेतन स्तर। इस वर्गीकरण का आधार मनोविज्ञान न होकर मनोविश्लेषण है। जहाँ मनोवैज्ञानिक चेतना के ऊपरी स्तर पर ही होने वाली शक्ति की विभिन्न क्रियाओं का अनुशीलन करते रहे है, वहाँ मनोविश्लेपकों ने मस्तिष्क के भीतरी स्तरों—उपचेतन, एवं अचेतन—का भी विश्लेषण किया है। वस्तुत. चेतन स्तर की सभी शक्तियों का सम्बन्ध उपचेतन एव अचेतन से है। चेतनस्तर के प्रभाव एक ओर उपचेतन और अचेतन में जाकर संगृहीत एवं सुषुप्त हो जाते है तो दूसरी ओर अचेतन और उपचेतन की प्रक्रियाएँ भी चेतन स्तर पर व्यक्त हो सकती है। जिस घटना का प्रत्यक्षीकरण करता हुआ चेतन मन ऐन्द्रिक आकर्षण अनुभव करता है—वही उपचेतन में बिम्ब का रूप ग्रहण कर लेती है और अचेतन मे केवल अनुभूति मात्र रह जाती है। चेतन स्तर के भाव उपचेतन और अचेतन मे क्रमश: भावना एव वासना का रूप धारण कर लेते है। इसी प्रकार चेतन स्तर की बुद्धि, उपचेतन मे स्मृति एव अचेतन मे सस्कार मात्र रह जाती

है। अतः ऐन्द्रिक, बौद्धिक, और भावात्मक—इन तीनों प्रकार के आकर्षण का चेतन, उपचेतन, अचेतन से संबन्ध है। वस्तुतः ये तीनों स्तर आकर्षण की गभीरता को सूचित करते हैं। जो आकर्षण केवल चेतना की ऊपरी सतह या चेतन स्तर को ही छूता है वह न्यून शक्तिवाला होगा, जबकि अधिक प्रबल होने पर वह क्रमशः उपचेतन एवं अचेतन को भी प्रभावित करेगा। उदाहरण के लिए 'क्रोध' यदि चेतन स्तर की क्रिया है तो 'वैमनस्य' और 'शत्रुता' उसी के गभीर रूप है जो कि क्रमशः उपचेतन एव अचेतन से सम्बद्ध है। एक अनजान व्यक्ति पर हमें क्रोध तभी आता है जब कि वह हमे किसी प्रकार ठेस पहुँचाये, किन्तु जिसमे हमारा वैमनस्य है उसके हँसने पर भी हमे क्रोध आ सकता है, जबकि शत्रुता होने पर उस व्यक्ति को देखकर ही क्रोध आ जाता है—इसका क्या कारण है ? वस्तुतः पहले व्यक्ति पर आनेवाला 'क्रोध' एकाएक उदित चेतन स्तर का क्रोध है, जबकि शेष दो प्रकार के क्रोध क्रमशः उपचेतन एव अचेतन स्तर से सम्बन्धित है। इसी प्रकार आकर्षण के भी—चाहे वह ऐन्द्रिक हो, बौद्धिक हो या भावात्मक—चेतन, उपचेतन एव अचेतन की दृष्टि से तीन स्तर निर्धारित किये जा सकते है तथा ये तीनों स्तर आकर्षण की उत्तरोत्तर गभीरता के सूचक है। साहित्य में आकर्षण की इसी गभीरता के लिए ऐसे विषयो को स्थान दिया जाता है जिनसे हमारा सम्बन्ध तात्कालिक न होकर, दीर्घ एव प्राचीन हो, क्योकि ऐसे विषय हमारी चेतना के आन्तरिक स्तरो (उपचेतन, अचेतन) से सम्बद्ध होते है। अस्तु, जहाँ ऐन्द्रिक, बौद्धिक, एव भावात्मक प्रकार के आकर्षणो मे से भावात्मक कोटि का आकर्षण सर्वाधिक प्रबल होता है, वहाँ भावात्मक कोटि के विभिन्न आकर्षणों में से भी सर्वाधिक प्रबल उसे माना जायगा जो कि हमारी चेतना की अधिक गहराइयों को छूता हुआ हमारे उपचेतन एव अचेतन मन को भी अधिकाधिक प्रभावित करता है। साहित्य मे ऐसा आकर्षण तभी आ सकता है जब कि साहित्यकार की चेतना का भी विषय के साथ ऐसा ही गभीर सम्बन्ध हो अर्थात् वह उसके चेतन मन की कल्पना मात्र न होकर उसके अचेतन एव उपचेतन की घाटियो को पार करके ऊपर उठा हो।

९.६. आकर्षण शक्ति की गति—

शक्ति उद्दीप्त होने पर सीधी चाल मे आगे नही बढती, अपितु वह वक्र गति से चक्कर काटती हुई अग्रसर होती है। जहाँ वैज्ञानिक एव शास्त्रीय विषयो मे या लोक-व्यवहार में हम अपनी बात सीधे ढंग से कहते है वहाँ साहित्य मे आकर्षण शक्ति के आवेश के कारण हमारी अभिव्यक्ति में वक्रता, घुमाव या आवृत्ति आ जाती है। कविता मे यह आवेश सर्वाधिक होता है, अतः उसमे यह वक्रता अधिक स्पष्ट रूप में लक्षित होती है। छन्द, लय, वाक्य-विन्यास का वैशिष्ट्य, अनुप्रासों एव यमकों के रूप में शब्दों की आवृत्ति ये विशेषताएँ आकर्षण-शक्ति की वक्र गति की ही द्योतक

है । साहित्य के गद्य-रूपों मे भी यह वक्रता उनके रूप-संगठन, शिल्प-विधान एवं शैलीगत वैशिष्टच में देखी जा सकती है । वस्तुतः जिस प्रकार नर्तक वक्र-गति से पद-संचार करता है, गायक स्वरो के आरोह-अवरोह की आवृति करता है, और अभिनेता विशिष्ट भाव-भगिमाओ के साथ अपनी बात कहता है, वैसे ही साहित्यकार भी अपनी अनुभूति को विशिष्ट शब्दावली, वक्र वाक्य-विन्यास एव लाक्षणिक अर्थो में व्यक्त करता है । उसकी अभिव्यक्ति में वक्रता का गुण सहज रूप मे ही आ जाता है । जो लोग साहित्य में स्वाभाविकता के नाम पर वक्रता का विरोध करते है, उनसे हमारा निवेदन है कि जिस प्रकार प्रेम में गद्-गद् होकर कोमल शब्दावली का प्रयोग करना या पीड़ित होने पर प्रलाप करना या क्रोध मे उत्तेजित होने पर उच्च स्वर मे बोलना बिल्कुल स्वाभाविक है वैसे ही आकर्षण शक्ति के आवेश से साहित्यकार की शब्दावली में भी वक्रता का आ जाना बिल्कुल स्वाभाविक है । यदि कोई व्यक्ति प्रेम, शोक, क्रोध आदि परिस्थियो में भी सामान्य ढग से बातचीत करता है तो हमे या तो उसका यह ढग अस्वाभाविक प्रतीत होगा या उसके प्रेम, शोक, क्रोध पर सदेह होने लगेगा । इसी प्रकार साहित्य में भी वक्रता का आना ही स्वाभाविक है, स्वाभाविकता वहाँ अस्वाभाविक है । यह दूसरी बात है कि जब कोई साहित्यकार आकर्षण शक्ति का आवेश न होने पर भी कृत्रिम ढग से अपनी रचना मे वक्रता लाने का प्रयास करता है तो वहाँ भी वक्रता सहज और स्वाभाविक न होकर कृत्रिम एवं प्रभाव शून्य हो जायगी ।

९.७. आकर्षण शक्ति का लक्ष्य : आनन्द—

साहित्य के सम्बन्ध में एक तथ्य ऐसा है जिसे प्रायः सभी विद्वानो ने स्वीकार किया है—वह है साहित्य की आनन्द प्रदान करने की क्षमता । साहित्य से—सफल साहित्यिक कृति से—पाठक को आनन्द मिलता है, यह निष्कर्ष इतना सर्व-मान्य है कि इस पर हम यहाँ विशेष वाद-विवाद करने की आवश्यकता नही समझते । यहाँ हमें इस प्रश्न पर विचार करना है कि यह आनन्द क्यों और कैसे मिलता है ? जैसे कि पिछले अध्याय में बताया गया है—शक्ति का लक्ष्य विरोधी तत्त्वो या पूरक तत्त्वो के सामजस्य के द्वारा पूर्णता, सतुलन एवं शान्ति प्राप्त कर लेना होता है । इस पूर्णता में ही आनन्द का तत्त्व निहित है । जैसा कि दार्शनिको एवं मनोवैज्ञानिकों ने बार बार बताया है, हमारे समस्त असंतोष, दुःख, एवं चांचल्य का कारण अभाव की अनुभूति है—जिसे दूसरा नाम 'इच्छा' भी दिया गया है । यदि हमारी प्रत्येक इच्छा पूर्ण होती रहे तो हमारा जीवन आनन्दमय बन सकता है । शुद्धाद्वैत दर्शन मे ब्रह्म एवं जीव में यही अन्तर बताया गया है कि ब्रह्म अपनी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करने में समर्थ होता है, अतः उसमें सत् चित्, और आनन्द—तीनों गुणो का सदा आविर्भाव रहता है जब कि जीव में समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने की क्षमता न होने के कारण उसका आनन्द गुण लुप्त या तिरोहित हो जाता है । यदि किसी प्रकार जीव को

इच्छा-पूर्ति की शक्ति मिल जाय तो उसका आनन्द गुण पुनः जागृत हो सकता है—या यों कहिए कि जिन क्षणों में उसकी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती है वह उन क्षणों में आनन्द की अनुभूति कर पाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह सत्य है कि जिन वस्तुओं, पदार्थो एवं विषयो के प्रति हमारा आकर्षण होता है, उनके सामीप्य से या उनकी प्राप्ति और उपभोग से हमें आनन्द मिलता है। अस्तु, अभावों, आकर्षणो एव इच्छाओं की सम्यक् पूर्ति से—या पूर्णता की अनुभूति से—हमें आनन्द मिलता है—यह स्पष्ट है।

ऊपर हमने लौकिक क्षेत्र के आनन्द पर विचार किया है। अब हमें यह देखना चाहिए कि साहित्य में इस आनन्द की उपलब्धि किस प्रकार होती है ? इस सम्बन्ध में विभिन्न वर्ग के विद्वानों ने विभिन्न उत्तर दिये है। रस-सिद्धान्त में इसी आनन्दोपलब्धि की प्रक्रिया को रस-निष्पत्ति का नाम दिया गया है। इस रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया की भी विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न रूपों में व्याख्या की है। आचार्य भट्टनायक के अनुसार पाठक को रस या आनन्द काव्य की अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व शक्तियों के व्यापार से उपलब्ध होता है; अभिधा के द्वारा पाठक काव्य का अर्थ-बोध करता है, जब कि भावकत्व के द्वारा वह विषय को भावित या सप्रेषित करता है। इसी भावकत्व की शक्ति के कारण वह विषय के प्रति तटस्थ न रह कर उसे आत्मसात् कर लेता है और साथ ही अपने-पराये की भावना से भी वह मुक्त हो जाता है। भावक शक्ति की इसी उपलब्धि को एक अन्य नाम 'साधारणीकरण' भी दिया गया है। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित के शब्दों में—'इस प्रकार भावकत्व शक्ति और साधारणीकरण व्यापार द्वारा ताटस्थ्य तथा आत्मगतत्व दोनों दोषो का निरसन हो जाता है। इसके अनन्तर भोजकत्व शक्ति की प्रक्रिया संपन्न होती है, जिसके कारण पाठक मे सत्व का उद्रेक होता है, उसके हृदय का द्रवण एवं विस्तार होता है तथा उसे एक ऐसी विलक्षण अनुभूति होती है, जिसे आनन्दात्मक, पर ब्रह्मास्वाद सहोदर रूपी अनुभूति कह सकते है।'

आचार्य भट्ट नायक द्वारा निरूपित उपर्युक्त प्रक्रियाओं का विश्लेषण करें तो वे आकर्षण-शक्ति की ही चार प्रक्रियाएँ सिद्ध होंगी—देखिये—(१) अभिधा शक्ति द्वारा व्यक्ति को विषय का बोध होता है या व्यक्ति और विषय में संपर्क स्थापना होती है; इसी को संयोजन की प्रक्रिया कह सकते हैं (२) भावकत्व शक्ति के कारण व्यक्ति विषय को भावित या सप्रेषित करता है जिससे साधारणी करण होता है, इसी को संप्रेषण की प्रक्रिया कह सकते है। (३) भोजकत्व की प्रक्रिया के कारण पाठक के हृदय का द्रवण, या चित्त का विस्तार होता है, इसी को हम द्रवण की प्रक्रिया कह सकते है। (४) इसके साथ ही पाठक में सत्व का उद्रेक होता है जिससे उसे विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है। सत्व के उद्रेक को ही हम सत्त्व की अभिव्यक्ति या अभिव्यक्ति की प्रक्रिया कह सकते है।

इस प्रकार भट्ट नायक की रस-निष्पत्ति सम्बन्धी प्रक्रियाएँ आकर्षण शक्ति की चारों प्रक्रियाओ के अनुरूप है—उनका परस्पर समन्वय हो जाता है। किन्तु उन्होने एक तो इन प्रक्रियाओं को किसी एक शक्ति से सम्बन्धित न करके उन्हे स्वतत्र शक्तियों के रूप मे प्रस्तुत किया है ; दूसरे वे सत्त्व के उद्रेक' की प्रक्रिया को अभिव्यक्ति के रूप में अधिक स्पष्ट नहीं कर सके, वे इस पर अधिक बल नही दे सके। सभवत: इसी से उनका मत परवर्ती आचार्यो को सश्लिष्ट, प्रामाणिक, स्पष्ट एवं स्वीकार्य प्रतीत नही हुआ—किन्तु हमारे विचार से उनका मत बहुत समीचीन है, और वह काव्यास्वादन की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण सकेत प्रदान करता है। हम आचार्य भट्ट नायक की विवेचना से यह निष्कर्ष ग्रहण कर सकते है कि साहित्य का आनन्द साहित्यास्वादन की उपर्युक्त प्रक्रियाओं का परिणाम है और ये प्रक्रियाएँ उत्तरोत्तर रस-दशा के विकास को सूचित करती है। इस दृष्टि से अभिधा, भावकत्व या साधारणीकरण, भोजकत्व, सत्वोद्रेक (अभिव्यक्ति) का महत्त्व भी उत्तरोत्तर अधिक है। जिस प्रकार अभिधा भावकत्व व्यापार मे योग देती है, भावकत्व व्यापार भोजकत्व म भोजकत्व सत्वोद्रेक मे, उसी प्रकार सत्वोद्रेक आनन्दानुभूति मे योग प्रदान करता है। अत: आनन्दानुभूति का सीधा या तात्कालिक सम्बन्ध सत्वोद्रेक या अभिव्यक्ति व्यापार से है। इस निष्कर्ष का समर्थन आकर्पण सिद्धान्त के अनुसार भी होता है, अत: आगे हम इस पर और अधिक प्रकाश डालेगे।

इससे पूर्व की हम आनन्दानुभूति पर निजी दृष्टिकोण से विचार करे—इस सम्बन्ध मे कुछ अन्य पूर्व प्रचलित मतो का अवलोकन कर लेना चाहिए। आचार्य अभिनव गुप्त ने रस-निष्पति के सम्बन्ध मे भट्ट नायक के मत का विरोध करते हुए अपने अभिव्यक्तिवादी मत की स्थापना की। वस्तुत: उनका मत भट्ट नायक के मत का ही संशोधित एवं विकसित रूप है। उन्होने भावकत्व, भोजकत्व आदि शक्तियों के अस्तित्व को तो अस्वीकार किया किन्तु साधारणीकरण व्यापार को स्वीकार कर लिया। दूसरे, उन्होने सत्व के उद्रेक के स्थान पर पाठक के वासनागत सस्कारो की अभिव्यक्ति की बात कही। प्रश्न है—ये 'वासनागत संस्कार' क्या है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि कोई भी व्यक्ति या जीवित प्राणी वासना से शून्य नही होता। इन्ही के विभिन्न संस्कार स्थायी भाव या चित्तवृत्तियों के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अत: कहना चाहिए कि काव्य में साधारणीकरण के साथ-साथ पाठक के स्थायी भावों की अभिव्यक्ति होती है। प्रश्न है—क्या यह अभिव्यक्ति एकाएक होती है या इससे पूर्व कोई और भी प्रक्रिया होती है ? मनोविज्ञान के अनुसार कोई भी भाव अभिव्यक्त होने से पूर्व पोषित एवं उद्दीप्त होता है। यदि आचार्य अभिनव गुप्त की स्थायी भावों की अभिव्यक्ति की बात मान भी लें तो भी यह स्पष्ट है कि इस अभिव्यक्ति से पूर्व पाठक के स्थायी भाव पोषित एवं उद्दीप्त होते हैं। प्रश्न है कैसे ? रस सिद्धान्त के अनुसार काव्य की विषय वस्तु भावनाएँ हैं। काव्य के अर्थ-बोध

के साथ ही हमारी भावनाओ का उद्बोधन होने लगता है ; साधारणीकरण के रूप में हमारी चिर संचित अनुभूतियाँ एवं भावनाएँ काव्यगत भावनाओ से मिलकर एकाकार हो जाती है या वे परस्पर सप्रेषित हो जाती है। इस साधारणीकरण व्यापार के अनन्तर हृदय-द्रवण के परिणाम स्वरूप हमारी सप्रेषित भावनाएँ व्यक्त होती है तथा यह अभिव्यक्ति का उल्लास ही आनन्द की अनुभूति है। यहाँ यह स्पष्ट है कि यह वासनाओं या भावनाओ का अभिव्यक्ति-व्यापार एकाएक सपन्न नही होता—इस अभिव्यक्ति व्यापार की विभिन्न अवस्थाओं का दिग्दर्शन एक ओर भट्ट नायक के तीन शक्ति व्यापारो से होता है तो दूसरी ओर आकर्षण-सिद्धान्त की चारों प्रक्रियाओं द्वारा होता है। आचार्य भट्ट नायक ने जहाँ प्रथम तीन व्यापारों पर अधिक बल दिया, वहाँ उन्होने चौथे व्यापार—अभिव्यक्ति की व्याख्या को गौण कर दिया जब कि आचार्य अभिनव गुप्त ने चौथे व्यापार पर इतना बल दिया कि प्रथम तीन व्यापार गौण एवं उपेक्षित हो गये। वस्तुतः हम दोनों के मत को समन्वित करते हुए आनन्दानुभूति की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण के लिए चारों ही व्यापारो या प्रक्रियाओं को ध्यान में रखना आवश्यक समझते है।

साधारणीकरण और अभिव्यक्ति के व्यापारो की व्याख्या विभिन्न पाश्चात्य आचार्यो ने भी गभीरता के साथ की है। आचार्य अरस्तू ने करुण से आनन्द की उपलब्धि का आधार विरेचन को माना है। उनके अनुसार काव्य से आनन्द उपलब्धि का कारण यह है कि जिस प्रकार हमारे शरीर से दूषित द्रव्य एवं मल के निष्कासन से हमें प्रसन्नता की अनुभूति होती है, वैसे ही काव्य के द्वारा हमारी दूषित वासनाओ का विरेचन हो जाता है। यह सिद्धान्त उन्होने कदाचित् प्लेटो की इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए प्रस्तुत किया था कि काव्यानुशीलन से हमारी वासनाएँ उद्दीप्त हो जाती है, जिससे जीवन एवं समाज में अनाचार एवं अनैतिकता का प्रचार होता है। अवश्य ही, अरस्तू ने विरेचन सिद्धान्त के रूप में प्लेटो के आक्षेपों का निराकरण करने मे सफलता प्राप्त की, किन्तु उनका मत आनन्दानुभूति की प्रक्रिया की व्याख्या आंशिक रूप में ही करता है। अरस्तू और अभिनव गुप्त—दोनों ही काव्य से वासनाओं की अभिव्यक्ति या विरेचन की बात मानते है, किन्तु वे प्रारंभिक व्यापारों पर अधिक प्रकाश नहीं डालते। आचार्य अभिनव गुप्त अवश्य साधारणीकरण के प्रसंग में अधिक गहराई तक जाते हैं।

आधुनिक युग में साधारणीकरण एवं अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ विभिन्न स्वतंत्र सिद्धान्तों के रूप में भी प्रतिष्ठित हुई है। एक ओर टाल्स्टाय ने काव्य के माध्यम से कवि के भावों का पाठकों तक संक्रमण के आधार पर अपने संक्रमण-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है, तो दूसरी ओर आई० ए० रिचर्ड्स ने साहित्यकार और पाठकों में भावों के पारस्परिक तादात्म्य के आधार पर 'संप्रेषण सिद्धान्त' की स्थापना की है। इसी प्रकार क्रोचे, कालिंगवुड, कैरिट्ट आदि ने सहजानुभूति, अनुभूतियों एवं भावों

की अभिव्यक्ति के आधार पर अभिव्यक्तिवाद का प्रचार किया है तो दूसरी ओर मनोविश्लेषकों ने वासनाओं—विशेषत: काम वासना—की अभिव्यक्ति का समर्थन किया है। जैसा कि हमने पीछे स्पष्ट किया है ; ये सभी सिद्धान्त आंशिक रूप से रसास्वादन की प्रक्रिया की व्याख्या करते है और एक दूसरे के पूरक है। इन सबके अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि साहित्य से आनन्द की उपलब्धि क्रमश: अर्थ-बोध, (संयोजन) भावन (संप्रेषण), द्रवण, एव अभिव्यक्ति की प्रक्रियाओं के द्वारा ही प्राप्त होता है—ये चारों प्रक्रियाएँ एक ही शक्ति—आकर्षण शक्ति—के चार व्यापार, या उसके कार्य की चार अवस्थाएँ है। अतः समग्र रूप मे कह सकते है कि काव्य या साहित्य से आनन्द आकर्षण शक्ति की प्रक्रियाओ से उपलब्ध होता है। आनन्द या रस इसी शक्ति का कार्य है, लक्ष्य है, या उसकी सफलता का प्रमाण है।

९.८. आनन्दानुभूति ओर कुछ अन्य प्रश्न—

साहित्य से प्राप्त होने वाली आनन्दानुभूति के सम्बन्ध में और भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित है ; जैसे—(१) साहित्य मे अभिव्यक्ति से आनन्द क्यों मिलता है, जबकि लौकिक क्षेत्र मे सर्वत्र ही ऐसा नही होता। (२) साहित्य में बीभत्स, करुण, भयानक आदि से भी आनन्दानुभूति स्वीकार की गई है ? ऐसा क्यों ? (३) क्या साहित्य से प्राप्त होने वाला आनन्द सर्वत्र एक ही प्रकार का होता है, या उसका वर्गीकरण भी किया जा सकता है ? आदि। इन पर यहाँ क्रमश: विचार किया जाता है—

(१) जैसा कि पीछे बताया गया है अनेक प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों—अरस्तू, अभिनव गुप्त, क्रोचे, फ्रायड आदि—ने साहित्य के आनन्द को अभिव्यक्ति का आनन्द या अभिव्यक्ति जन्य आनन्द माना है ? प्रश्न है कि अभिव्यक्ति की प्रक्रिया में ऐसी कौनसी विशिष्टता है, जिससे हमें आनन्द की अनुभूति होती है ? या प्रत्येक प्रकार की अभिव्यक्ति से आनन्दोपलब्धि संभव है ? इस सम्बन्ध में आकर्षण-सिद्धान्त के अनुसार कहा जा सकता है कि प्रत्येक प्रकार की अभिव्यक्ति आनन्ददायक नहीं होती—केवल वही अभिव्यक्ति जो कि आकर्षण से सम्बद्ध हो—आनन्ददायक हो सकती है। उदाहरण के लिए, जब हम सुगन्धित फूल से आकर्षित होकर जब उसे सूंघते हैं तो प्रसन्नता की अनुभूति होती है तथा वह अनुभूति किसी न किसी रूप में व्यक्त होती है ; इस अभिव्यक्ति में हमारे आनन्द का अस्तित्व माना जा सकता है—चाहे उसकी मात्रा बिल्कुल न्यून हो। किन्तु जब हम एक दुर्गन्धपूर्ण स्थान में से गुजरते हैं तो वहाँ भी हमें किसी न किसी प्रकार की अनुभूति तो होती ही है तथा उसकी अभिव्यक्ति भी होती है, पर यह अभिव्यक्ति पिछली अभिव्यक्ति से भिन्न कोटि की होगी। इसमें प्रसन्नता की अभिव्यक्ति न होकर, अप्रसन्नता, जुगुप्सा आदि की अभिव्यक्ति हो सकती है। वस्तुत: प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति जहाँ आकर्षक

वस्तु के संप्रेषण या भोग की अनुभूति से सम्बद्ध थी, वहाँ दूसरे प्रकार की अभिव्यक्ति विकर्षक वस्तु के संप्रेषण की अनुभूति से सम्बन्धित थी। अतः एक आनन्ददायक थी तो दूसरी कष्टदायक। अस्तु, हम कह सकते हैं कि केवल आकर्षक पदार्थों के संप्रेषण (भोग) की अनुभूति का प्रकाशन (अभिव्यक्ति) ही आनन्द स्वरूप होता है, अन्यथा नही।

कई बार ऐसा होता है कि किसी वस्तु में कृत्रिम आकर्षण होता है, जिससे हम उसके निकट तो पहुँच जाते हैं—या उससे साहचर्य सम्बन्ध स्थापित कर लेते है किन्तु बाद में जाकर आकर्षण न्यून या मंद पड़ जाता है। ऐसी स्थिति मे हम उससे दूर हटना चाहते हैं किन्तु परिस्थिति-वश ऐसा नहीं कर पाते, हमें बाध्य होकर उसी वस्तु का संप्रेषण या भोग करना पड़ता है तथा उसकी अभिव्यक्ति भी होती है। ऐसे संप्रेषण को भी आकर्षण जन्य संप्रेषण नही माना जाता— वस्तुतः आकर्षण के अभाव में यह संप्रेषण ऊपर से भले ही सप्रेषण प्रतीत हो किन्तु आन्तरिक दृष्टि से उसी प्रकार सफल संप्रेषण नहीं हो पाता जिस प्रकार बिना भूख के खाया हुआ भोजन शरीर में भली भाँति संप्रेषित नहीं हो पाता—अतः इसकी अनुभूति और अभिव्यक्ति भी आनन्दमय नही मानी जा सकती। वस्तुतः आकर्षण-शक्ति के संयोजन, सप्रेषण, द्रवण, एवं अभिव्यजन व्यापार की पूर्ण सफलता तो तभी मानी जा सकती है जब कि आरम्भ से लेकर अन्त तक आकर्षण ज्यो का त्यो बना रहे। यदि किसी भी स्तर पर यह आकर्षण खंडित हो जाता है, तो उसके शेष व्यापार आकर्षण शक्ति से सम्बद्ध नहीं माने जा सकते—वे किसी और परिस्थिति या प्रवृत्ति—की देन हो सकते है। ऐसी स्थिति में भोक्ता की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति आनन्दमय नही हो सकती। अस्तु, प्रत्येक स्थिति में वही अभिव्यक्ति आनन्दमय होगी जो कि आकर्षण-शक्ति की विभिन्न प्रक्रियाओं के सफल सम्पादन के आधार पर होती है, अन्यथा उसका आस्वाद बदल जाता है।

यहाँ एक प्रश्न और उठता है—क्या उपर्युक्त निष्कर्ष साहित्यिक और लौकिक—दोनों प्रकार की अनुभूतियो पर लागू होता है ? यदि दोनो क्षेत्रो पर ही समान रूप से लागू होता है तो उस स्थिति में इस परम्परागत धारणा का खडन हो जाता है कि काव्य की अनुभूति अलौकिक अनुभूति है या ऐसी अनुभूति है जो लौकिक क्षेत्र मे प्राप्त नही होती—क्या इसे हम अस्वीकार करते है ? इन प्रश्नो के उत्तर में हमारा निवेदन है कि आकर्षण की अनुभूति या आकर्षणजन्य सप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यंजन व्यापार की अनुभूति चाहे काव्य के माध्यम से हो या किसी अन्य लौकिक माध्यम से उसका स्वाद सर्वत्र आनन्दमय रहेगा—उसकी मात्रा मे भले ही अन्तर रहे। कठिनाई यह है कि लौकिक क्षेत्र मे आकर्षण की शुद्ध अनुभूति बहुत कम हो पाती है क्योकि ज्यो ही हम किसी दृश्य, वस्तु, पदार्थ आदि के प्रति शुद्ध आकर्षण का अनुभव करने लगते है त्योंही वह हमारे अहं से आच्छादित हो जाता है और तत्काल ही वह आकर्षण इच्छा में परिणत हो जाता है। यदि किसी सुन्दर

पदार्थ, सुन्दर व्यक्ति या सुन्दर दृश्य को हम निर्विकार भाव से देख पावें, उसका आस्वादन कर सकें तो हमें लौकिक क्षेत्रों में भी शुद्ध आनन्द की अनुभूति प्राप्त हो सकती है, किन्तु प्रायः ऐसा नही होता। हम सुन्दर वस्तु को देखकर कहने लगते हैं—"काश ! यह हमें मिल जाती !" या "जाने दो, हमें इससे क्या ! हमें तो मिलने से रही !" या "वह कितना भाग्यशाली है, जिसे यह मिली हुई है !"—ये सभी वाक्य हमारे अहं से मिश्रित है, अतः इनमें आकर्षण का स्वरूप विकृत होकर क्रमशः इच्छा, उपेक्षा, ईर्ष्या आदि में परिणत हो गया है। फिर भी जब कभी हम अपनी अति सहृदयता, भावुकता या उदारता के क्षणो में अपने राग-द्वेष, हित-अहित की भावना से मुक्त होकर किसी भी प्राकृतिक दृश्य या लौकिक घटना का प्रत्यक्षीकरण विशुद्ध आकर्षण की प्रेरणा से करते हैं तो वहाँ निश्चित ही हमें उसी आनन्द की अनुभूति होती है, जो कि साहित्य के माध्यम से प्राप्त होती है। अतः लौकिक क्षेत्र में भले ही आनन्द के ऐसे क्षण कम प्राप्त हों, किन्तु जब भी वे प्राप्त होते हैं तो उन्हें साहित्यानन्द के क्षणों की कोटि में रक्खा जा सकता है।

(२) दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—साहित्य में वीभत्स, करुण, भयानक आदि से भी आनन्द की उपलब्धि क्यों होती है ? प्राचीन आचार्यों ने इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये है। जैसे, अरस्तू महोदय के विरेचन सिद्धान्त के अनुसार करुण भावों से हमारी वासनाओं की अभिव्यक्ति हो जाती है—हमारे दूषित भाव व्यक्त हो जाते हैं, अतः इससे आनन्द मिलता है। यदि ऐसा ही है तो फिर हमें ऐसे काव्य से आनन्द नही मिलना चाहिए जिनमे सुखद एव शुभ भावो का चित्रण होता है ; क्योंकि दूषित भावों के निष्कासन से यदि आनन्द मिलता है तो पवित्र एवं शुभ भावों के विरेचन से शोक की अनुभूति होनी चाहिए। किन्तु वस्तुतः ऐसा नही होता। इस सम्बन्ध मे और भी अनेक उत्तर प्रचलित है, किन्तु उन सब पर यहाँ विचार करने का अवकाश नही है। हम केवल आकर्षण-सिद्धान्त के आधार पर ही इसका उत्तर देने का प्रयास करेंगे। कल्पना कीजिए, एक छोटा शिशु लकड़ी के शेर को देखकर भय का प्रदर्शन करता है, या दो पक्षी-तीतर या बटेर—क्रोध से अभिभूत होकर एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे है या शतरंज के खेल में एक पक्ष का एक गरीब सिपाही मारा जाता है; हम इन तीनों दृश्यों को रुचिपूर्वक देख रहे हैं। यहाँ प्रश्न है, क्या हम शिशु के भय से, तीतर या बटेर के क्रोध से या गरीब सिपाही की मृत्यु के शोक से अभिभूत होते है ? यदि नही होते तो इन दृश्यों में हमारी रुचि का आधार क्या है ? इनके उत्तर में कहा जा सकता है कि अवश्य ही हमें यहाँ भय, क्रोध, एवं शोक की अनुभूति नही होती, अपितु तीनों परिस्थितियों में ही हमें आनन्द आता है ; इस आनन्द का कारण हमारी रुचि है, और रुचि का आधार है—आकर्षण। बच्चे की भयपूर्ण चेष्टाएँ या तीतर-बटेर का युद्ध या शतरंज के सिपाही की मृत्यु की घटना—ये सब हमारे लिए आकर्षक हैं, ये वास्तविक नहीं हैं या

हमारा इनसे कोई निजी सम्बन्ध नहीं है, इस कारण इनके आकर्षण की अनुभूति में हमारा अहं बाधक नही होता। काव्य में भी भय, क्रोध, शोक आदि कटु भावों की अनुभूति के समय हमारी लगभग यही स्थिति होती है काव्य में जो कुछ प्रस्तुत है, वह किसी अन्य काल और अन्य स्थान से सम्बद्ध होता है—वह 'प्रत्यक्ष' न होकर 'काल्पनिक' होता है—अतः उस सत्ताहीन पदार्थ के पाने की लालसा या इच्छा से या उसके द्वारा होने वाले अनिष्ट की चिन्ता से हम मुक्त रहते हैं। जहाँ लौकिक क्षेत्र की प्रत्येक घटना के समय हमारा अहं जाग्रत रहता है, वहाँ काव्य में वह सो जाता है। आँखों के सामने लगी हुई प्रत्यक्ष आग को देखकर हम अपने कपडो को बचाने की चिन्ता में पड़ जाते हैं ; आग चाहे कितनी ही सुन्दर हो, उसका निश्चिन्तता से आस्वादन नहीं कर पाते, किन्तु सिनेमा के पर्दे पर दिखाई देने वाली आग के समय ऐसा नही होता। इस स्थिति को हम 'अहं से मुक्ति'—'अपने हानि-लाभ की चिन्ता' से मुक्ति—पाना कहते है। भावों में से अहं तत्त्व को निकाल देने पर वे विशुद्ध आकर्षण या विकर्षण मात्र रह जाते हैं—अतः कहना चाहिए कि साहित्य के माध्यम से पाठकों को भावों की अनुभूति नहीं होती अपितु विशुद्ध आकर्षण-विकर्षण की अनुभूति होती है। अवश्य ही इस आकर्षण-विकर्षण के भी अनेक रूप और अनेक भेद हो सकते है ; तथा सभी भावों से एक से ही आकर्षण की अनुभूति नही होती—उनमे परस्पर थोड़ा अन्तर रहता है, तथा हम इस अन्तर का स्पष्टीकरण भी इसी अध्याय के अन्त में करेंगे, किन्तु यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि काव्यजन्य अनुभूति एवं लौकिक अनुभूति में सबसे बड़ा अन्तर इस 'अहं' के बन्धन का ही है ; अहं से बँधकर या मिश्रित होकर आकर्षण भावों में परिणित हो जाते है और भाव अहं से मुक्त होकर या शून्य होकर आकर्षण मात्र रह जाते है। ऐसी स्थिति में काव्यगत शोक, भय, आदि भावों से वास्तविक शोक भय आदि मूल भावों के अनुरूप अनुभूति न होकर तज्जन्य आकर्षण की ही अनुभूति होती है।

यहाँ एक शका की जा सकती है कि साहित्य मे जहाँ कुछ भाव आकर्षण मे परिणत हो जाते है, वहाँ कुछ विकर्षण में भी परिणत हो सकते है, ऐसी स्थिति में हम सर्वत्र आकर्षण की ही अनुभूति क्यों मानें ? विकर्षण की भी तो अनुभूति हो सकती है। अवश्य ही काव्य में ऐसा होता है। परशुराम का लक्ष्मण के प्रति क्रोध, रावण के द्वारा सीता को दिया गया त्रास या गोदान के होरी पर विभिन्न लोगो का अत्याचार—ये सब हमारे मन में विकर्षण उत्पन्न करते है, किन्तु जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, एक दिशा का विकर्षण ही दूसरी दिशा के लिए आकर्षण सिद्ध होता है। उपर्युक्त तीनों परिस्थितियों में जहाँ क्रमशः परशुराम, रावण, एवं अत्याचारियों के प्रति विकर्षण होता है वहाँ क्रमशः लक्ष्मण, सीता एवं होरी के प्रति हमारे आकर्षण में अधिक अभिवृद्धि होगी ; उनके प्रति हमारी सहानुभूति में अभिवृद्धि होगी, तथा सहानुभूति आकर्षण का ही एक रूप है। अस्तु, साहित्यकार साहित्य में

विकर्षक तत्त्वों की आयोजना भी इस ढंग से, या ऐसी परिस्थिति में या इस रूप में करता है कि उनसे हमारे मूल आकर्षण मे अभिवृद्धि ही होती है। इसके लिए साहित्यकार को विशेष प्रयास नही करना पड़ता। यदि वह मूल विषय के प्रति सच्चे आकर्षण से साहित्य-सृजन मे प्रवृत्त होता है, तथा अन्त तक वह अपने इस आकर्षण की सहज प्रेरणा से ही आगे बढ़ता रहा तो उसकी रचना में केवल वे ही तत्त्व आ पायेंगे जो कि उसके मूल आकर्षण से सम्बद्ध है, शेष तत्त्व स्वयं ही दूर हट जायेंगे। ऐसी स्थिति मे विकर्षक तत्त्व काव्य में आ ही न सकेंगे, और यदि आयेंगे भी तो वे मूल आकर्षण के सहयोगी या उसके अनुकूल बन कर। जिस प्रकार उचित व्यवस्था से नमक एवं मिर्च जैसे कटु एवं तिक्त पदार्थ भी चटनी को सुस्वादु बनाते है, वैसे ही मूल आकर्षण से सुसम्बद्ध होकर साहित्य मे विकर्षक तत्त्व भी आकर्षक बन जाते है। अस्तु, साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त भय, शोक, क्रोध, आदि की भी अनुभूति आनन्दमय होगी, यदि उनकी अभिव्यक्ति के मूल में आकर्षण-शक्ति का योग रहा हो ; अन्यथा साहित्यकार और अन्य व्यक्ति की उक्तियों में कोई अन्तर न रह जायगा।

(३) तीसरा प्रश्न आनन्दानुभूति के प्रकार से सम्बन्धित है। साहित्य का विभिन्न रचनाओ से सदा एक ही प्रकार का आनन्द उपलब्ध होता है या उसके कई प्रकार या भेद है ? इस सम्बन्ध मे हमारा उत्तर है यद्यपि हम साहित्यानुभूति को सर्वत्र एक ही सज्ञा—आनन्दानुभूति—दे सकते है, फिर भी उसके अनेक सूक्ष्म भेद है। हम प्रत्येक व्यजन को स्वादिष्ट कह सकते है, किन्तु फिर भी विभिन्न व्यंजनो के स्वाद मे थोड़ा-बहुत अन्तर रहता ही है ; यहाँ तक कि जिस स्वाद को हम मधुर कहते है—उसके भी अनेक सूक्ष्म भेद है। दूध, शहद, गुड, चीनी, मिश्री, आम, रस-गुल्ला—इन सबके स्वाद को हम मधुर कहते है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन सब का स्वाद एक ही जैसा है। इसी प्रकार साहित्य की अनुभूति के भी अनेक स्तर और अनेक सूक्ष्म भेद होते है, जिनकी पूर्णतः मीमांसा करना मानव-भाषा के वश की बात नही है, फिर भी हम उसके कुछ स्थूल भेद निर्धारित कर सकते है।

साहित्य की आनन्दानुभूति की मूलाधार आकर्षण-शक्ति है। साहित्य की आकर्षण-शक्ति के पीछे तीन मुख्य भेद किए गये हैं—(१) ऐन्द्रिक आकर्षण (२) बौद्धिक आकर्षण और (३) भावात्मक आकर्षण। आकर्षण के इन भेदो के अनुसार उनके आस्वाद में भी सूक्ष्म अन्तर रहेगा। साहित्य में जब हम रंग, रूप, नख-शिख आदि स्थूल विशेषताओ के वर्णन के प्रति आर्कषित होते है तो उसके आस्वाद को हम ऐन्द्रिक आनन्द की संज्ञा दे सकते है। इसी प्रकार जब हम किसी बौद्धिक समस्या, कथानक की जटिलता, या किसी विशेष विचार के प्रति आर्कषित होकर उसमें तल्लीन होते हैं तो वहाँ बौद्धिक आनन्द की अनुभूति मानी जा सकती है जब कि भावात्मक

विषयों की अनुभूति से भावात्मक आनन्द की निष्पति होती है। आनन्द के इन भेदों की पुष्टि एक ओर लौकिक क्षेत्र की साहित्येतर अनुभूतियों से भी होती है। जब हम एक मीठे फल के आस्वादन से प्रसन्न होते हैं तो यह ऐन्द्रिक होती है, जब हम गणित के किसी प्रश्न को हल करने में तन्मय हो जाते हैं, या किसी विद्वान् के विचारोतेजक व्याख्यान के सुनने में लीन हो जाते हैं तो वहाँ हमें बौद्धिक आनन्द की अनुभूति होती है जब कि किसी प्रिय के आगमन के समाचार को सुनने पर होने वाली प्रसन्नता भावात्मक आनन्द की कोटि मे रक्खी जा सकती है।

साहित्यानन्द की अनुभूतियो के वर्गीकरण का प्रयास पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी किया है। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास रस सिद्धान्त के आचार्यों का है। उन्होने काव्य की विषय-वस्तु में भाव-विशेष की प्रमुखता के अनुसार तज्जन्य अनुभूति का नामकरण किया है; जैसे—रति भाव से शृंगार रस, घृणा या जुगुप्सा से वीभत्स रस, उत्साह से वीर रस, भय से भयानक रस, क्रोध से रौद्र रस, हास्य से हास्य रस, आश्चर्य से विस्मय रस, शोक से करुण रस, निर्वेद से शान्त रस आदि। यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक एवं सगत है किन्तु इसे और अधिक व्यापक एवं स्पष्ट करने की आवश्यकता है। इसका प्रयास हम आगे भावों के प्रसंग में करेंगे। यहाँ हम इतना ही उल्लेख कर देना चाहते है कि जहाँ इनमें से कुछ रसों में ऐन्द्रिक एवं भावात्मक आनन्द की प्रमुखता रहती है वहाँ कुछ में बौद्धिक आनन्द की। उदाहरण के लिए शृंगार रस मे जहाँ एक ओर पुरुष और नारी के रूप-सौन्दर्य का आख्यान होता है उसमे ऐन्द्रिक आकर्षण रहता है, वहाँ उनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति में भावात्मक आनन्द की प्रमुखता रहती है। जब कविगण शृंगार रस में कामुकतापूर्ण दृश्यो की अतिरजना कर देते है तो वहाॅ उसकी अनुभूति ऐन्द्रिक स्तर पर ही होती है, जो साहित्यिकता की दृष्टि से निकृष्ट कोटि की अनुभूति है। इसी प्रकार जासूसी उपन्यासो से विस्मय रस की अनुभूति हो सकती है जिसमें भावात्मक आकर्षण न्यून एव बौद्धिक आकर्षण अधिक होता है; क्योंकि इनमे पाठक की प्रवृत्ति जिज्ञासा एवं कौतूहल की वृत्तियो के कारण होती है, तथा ये वृत्तियाँ भावना की अपेक्षा बौद्धिकता से अधिक सम्बद्ध है। इसी प्रकार शान्त रस मे बौद्धिक आनन्द की अनुभूति होती है। शान्त रस का स्थायी भाव क्या हो—इस समस्या का समाधान अभी तक नही हो सका है। इसका कारण यह है कि शान्तरस में किसी विचार-विशेष को अनुभूतिगम्य बनाया जाता है, अतः उसका स्थायी भाव कोई भाव न होकर बौद्धिक तत्त्व होता है। इसका आभास विभिन्न आचार्यो द्वारा सुझाये गये स्थायी भावों से भी मिलता है, जैसे—शम, निर्वेद, तत्त्व-चिन्तन, तृष्णा-क्षय-सुख आदि। वस्तुतः 'शम' क्या है? इसे हिन्दी में शान्ति कह सकते है—भावों में जहाँ मन चंचल होता है वहाॅ भावो से मुक्ति पाने पर, या किसी बौद्धिक विषय में तल्लीन होने पर शान्ति का अनुभव करता है; यह शान्ति की अनुभूति ही शान्त रस

का स्थायी भाव है। अस्तु, शान्त रस में बौद्धिक विषयों के आस्वादन से प्राप्त शान्ति की अनुभूति रहती है जिसे हम बौद्धिक आनन्द में स्थान दे सकते हैं। आजकल नयी कविता में जिस बौद्धिक रस की चर्चा की जाती है—वह भी यह शान्त रस ही है, यह दूसरी बात है कि आधुनिक कविता में बौद्धिकता प्रायः रस दशा तक नहीं पहुँच पाती क्योंकि उसके लिए बौद्धिक विषय का अपेक्षित मात्रा में संप्रेषण, एवं द्रवण भी अपेक्षित है। अस्तु, परंपरागत वर्गीकरण से हमारा कोई विरोध नहीं है—हमने आकर्षण सिद्धान्त के आधार पर आनन्द का केवल त्रिगुणात्मक वर्गीकरण किया है, जो कि पूर्ववर्ती वर्गीकरण को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध होगा, इस सम्बन्ध में अधिक विवेचन अन्यत्र किया जायगा।

६.६. उपसंहार—

साहित्य की आत्मा या शक्ति सम्बन्धी अब तक के विवेचन से उपलब्ध निष्कर्षों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—(क) भारतीय सिद्धान्तों के अध्ययन के अनुसार अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, औचित्य आदि का लक्ष्य साहित्य में सौन्दर्य, चारुता, शोभा, रमणीयता आदि की प्रतिष्ठा करना है। यदि हम सौन्दर्य, चारुता शोभा, रमणीयता आदि का समन्वय एक शब्द में करना चाहें तो इनके स्थान पर 'आकर्षण' का प्रयोग किया जा सकता है। (ख) रस काव्यगत तत्त्व नहीं अपितु काव्यगत सौन्दर्य या आकर्षण के आस्वादन की अनुभूति है, अतः उसे काव्य की आत्मा न मानकर उसका कार्य या परिणाम मानना उचित है। (ग) अनुकृति, उदात्त, बिम्ब आदि से भी उसी स्थिति में काव्यत्व की सृष्टि होती है जबकि वे आकर्षण युक्त या आकर्षक हों। (घ) साहित्य की शक्ति के लिये 'आकर्षण-शक्ति' का प्रयोग सहज रूप में प्रायः सभी युगों में होता रहा है। (ङ) आकर्षण-शक्ति की प्रायः सभी सामान्य प्रवृत्तियाँ साहित्य की आकर्षण-शक्ति में भी मिलती हैं।

अस्तु, उपर्युक्त सभी निष्कर्ष इस बात की पुष्टि करते हैं कि साहित्य की आत्मा या शक्ति आकर्षण-शक्ति ही है; शेष सभी तत्त्व उसी के सहयोगी, साधक एवं पूरक हैं, अतः साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व इसी को दिया जाना चाहिए। साहित्य में आकर्षण-शक्ति का आविर्भाव एवं उद्दीपन किन तत्वों के माध्यम से और किस प्रकार होता है—इसकी व्याख्या आगे साहित्य के द्रव्य एवं रूप की विवेचना करते समय इस प्रबन्ध के अन्य खंडों में की जायगी।

परिशिष्ट क—

साहित्य-विज्ञान : सारांश

●

'साहित्य-विज्ञान' के तीन खंडों में क्रमशः साहित्य की शक्ति, साहित्य के द्रव्य और साहित्य के रूप का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया जा चुका है। यहाँ हम तीनों खंडों में उपलब्ध निष्कर्षों को कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत संक्षिप्त एवं संश्लिष्ट रूप मे प्रस्तुत कर सकते है।

'साहित्य-विज्ञान' की स्थापना—यद्यपि हमारे पास परंपरागत साहित्य-शास्त्र के रूप में साहित्य-सिद्धान्तों का एक विशाल कोष विद्यमान है किन्तु अनेक कारणों से वह आज की परिवर्तित परिस्थितियों में बहुत-कुछ अनुपयोगी, अव्यावहारिक एवं प्रभाव-हीन हो गया है। एक तो आधुनिक युग में हमारी बौद्धिक चेतना का केन्द्र एवं हमारी आस्था का आधार विज्ञान हो गया है जबकि परम्परागत साहित्य-शास्त्र धर्म और दर्शन की मान्यताओं पर आधारित है। दूसरे, परंपरागत साहित्य-शास्त्र मे शास्त्र-रचयिताओं के वैयक्तिक आग्रह के कारण किसी भी विषय के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित या सर्व-सम्मत् मत नही मिलता। विभिन्न संप्रदायों के विद्वान एक ही तथ्य और तत्त्व की व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से करते हुए उस पर अपना-अपना अधिकार सिद्ध करते हैं। फलतः परम्परागत साहित्य-शास्त्र में एक ही प्रश्न के अनेक उत्तर, एक ही समस्या के अनेक हल या एक ही विवाद के सम्बन्ध में अनेक निर्णय उपलब्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में इसके सिद्धान्तो का अनिश्चित, अव्यावहारिक एवं अप्रामाणिक हो जाना स्वाभाविक है। सर्व-सम्मत सिद्धान्तों के अभाव में साहित्य के क्षेत्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो रही है, अतः इस स्थिति को नियन्त्रित एवं सुशासित करने के लिए एक प्रामाणिक साहित्य-शास्त्र की नितान्त आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए अनेक पाश्चात्य विद्वानों—सैंत ब्यव, तेन, आर० जी० मौल्तन, जे० एम० राबर्टसन, आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट डिंगले, मार्टिन जोन्सन आदि—ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का प्रयास किया है किन्तु उन्हें इसमें अधिक सफलता नहीं मिल पाई। हमारे विचार से इनकी असफलता के

कुछ कारण ये हैं—(१) इन्होने साहित्य के किसी एक पक्ष या अवयव को ही लेकर विशृंखलित रूप में विचार किया। (२) उन्होंने साहित्य की विषय-वस्तु एवं उसके बाह्य रूपों को ही ध्यान में रखा, उसकी मूल शक्ति की बिल्कुल उपेक्षा कर दी। (३) इनके दृष्टिकोण में एकांगिता थी। (४) नव उपलब्ध निष्कर्षों को भी परस्पर समन्वित एवं सश्लिष्ट रूप नहीं दिया गया। (५) परंपरागत ज्ञान की सर्वथा उपेक्षा की गई। (६) इनकी प्रतिपादन-शैली दुरूह एवं जटिल है।

हमने भी साहित्य के सिद्धान्तों को शुद्ध, प्रामाणिक एवं निश्चित रूप प्रदान करने के उद्देश्य से ही परंपरागत साहित्य-शास्त्र को नये रूप में—'साहित्य-विज्ञान' के रूप में—प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। इसमें विवेचन का दृष्टिकोण, विवेचन का आधार एवं विवेचन की पद्धति—तीनों ही वैज्ञानिक हैं जिससे कि उपलब्ध निष्कर्षों में विज्ञान की सी प्रामाणिकता एवं निश्चितता आ सके। किन्तु इस वैज्ञानिकता के निर्वाह के साथ-साथ हमने इस बात का भी पूरा ध्यान रखा है कि कहीं हम भी वे भूलें न कर बैठें जिनके कारण पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रयास असफल सिद्ध हुए हैं। इसीलिए 'साहित्य-विज्ञान' में कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं जिनका पूर्ववर्ती प्रयासों में अभाव था ; जैसे, (१) साहित्य के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसके तीनों पक्षों—शक्ति, द्रव्य एवं रूप—पर विचार किया गया है। (२) सारे विवेचन को योजना बद्ध एव व्यवस्थित रूप प्रदान करते हुए एक स्वतत्र विषय—साहित्य-विज्ञान—के रूप में प्रस्तुत किया गया है। (३) प्रत्येक तथ्य पर विचार करते हुए परंपरागत साहित्य-शास्त्र के भी तत्सम्बन्धी निर्णयों को ध्यान में रखा गया है तथा उन्हें संशोधित करते हुए उनके औचित्य के अनुसार उन्हें स्वीकार किया गया है। (४) इसमें आवश्यकतानुसार सभी सम्बन्धित विषयों की सामग्री का उपयोग किया गया गया है। (५) विवेचन-शैली को दुरूहता एव अस्पष्टता से बचाने का पूरा प्रयास किया गया है।

इन विशेषताओं के कारण प्रस्तुत प्रयास कितना सफल हो सका है, इसका निर्णय तो भविष्य में ही हो सकेगा, फिर भी इतना निश्चित है कि इसके कारण साहित्य के वैज्ञानिक विवेचन के लिए एक स्वतंत्र क्षेत्र एवं एक निश्चित मार्ग प्राप्त होगया है—भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान आदि की भाँति साहित्य-विज्ञान भी वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित एक नये विषय के रूप में प्रतिष्ठा एवं मान्यता प्राप्त करेगा—ऐसी आशा करना अनुचित नहीं है।

(२) **साहित्य की परिभाषा**—साहित्य का वैज्ञानिक अध्ययन आरंभ करते ही सबसे पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि साहित्य क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में परंपरागत साहित्य-शास्त्र से शताधिक परिभाषाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु इससे मूल समस्या का समाधान नहीं होता, प्रत्युत् एक नई समस्या उपस्थित हो जाती है कि इनमें से किसे स्वीकार करें और किसे नहीं। इन परिभाषाओं पर आलोचनात्मक

दृष्टि से विचार करने पर यह भी स्पष्ट होता है कि ये सभी अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष से युक्त हैं। किन्तु फिर भी इन्हें हम ठुकरा नहीं सकते क्योंकि इनमें आंशिक असत्य के साथ-साथ आंशिक सत्य भी विद्यमान है। वैज्ञानिक का कार्य यह है कि वह सत्य को ग्रहण कर ले और असत्य को त्याग दे। इन परिभाषाओं के भी अन्तर्निहित सत्य को असत्य से पृथक करने के लिए इन सबका विश्लेषण तीन शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है—(१) साहित्य का माध्यम क्या है ? (२) साहित्य का आधारभूत तत्त्व क्या है ? (३) साहित्य का लक्ष्य क्या है ?

विभन्न परिभाषाओं द्वारा प्रस्तुत सामग्री का विश्लेषण उपर्युक्त शीर्षकों के अन्तर्गत किये जाने से साहित्य के तीन सामान्य लक्षणों पर प्रकाश पड़ता है—(१) साहित्य का माध्यम भाषा है। (२) साहित्य के अर्थ-बोध से सौन्दर्य या आकर्षण की अनुभूति होती (३) साहित्य का लक्ष्य सामान्यतः प्रत्येक व्यक्ति को आनन्द प्रदान करना है। इन लक्षणों का समन्वय करते हुए साहित्य की नयी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है—साहित्य भाषा के माध्यम से रचित वह सौन्दर्य या आकर्षण से युक्त रचना है जिसके अर्थ-बोध से सामान्य व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। हमारे विचार से यह परिभाषा अतिव्याप्ति एव अव्याप्ति दोष से मुक्त है।

(३) **साहित्य की आत्मा या शक्ति**—किसी पदार्थ का वैज्ञानिक विश्लेषण करने के लिए सामान्यतः तीन पक्षों—शक्ति (Energy), द्रव्य (Matter) और रूप (Form)—में विभाजित कर लिया जाता है। हम भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए सर्व प्रथम साहित्य की शक्ति पर विचार सकते हैं। साहित्य की शक्ति से हमारा अभिप्राय साहित्य की उस विशेषता से है जिसके कारण साहित्य 'साहित्य' कहलाता है या जिसके अभाव में कोई भी रचना 'साहित्य' नही कही जा सकती। इसी विशेषता का अनुसंधान प्राचीन आचार्यों ने 'साहित्य की आत्मा' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। इस दृष्टि से साहित्य के प्रसंग में 'आत्मा' या 'शक्ति' दोनों एक ही विशेषता की परिचायक हैं। अतः साहित्य की शक्ति पर स्वतंत्र रूप से विचार करने के पूर्व यह उचित है कि हम तत्सम्बन्धी परंपरागत मतों का भी अनुशीलन करलें। इस सम्बन्ध में हम इन मतों पर विचार कर सकते है—(क) भारतीय मत—(१) रस (२) अलकार (३) रीति (४) ध्वनि (५) वक्रोक्ति (६) औचित्य। (ख) पाश्चात्य मत—(१) अनुकृति (२) औचित्य (३) अलंकृति (४) औदात्य (५) कल्पना। इन मतों की परीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें से कोई भी मत साहित्य की शक्ति के रूप में स्वीकार्य नहीं है।[1] उदाहरण के लिए 'रस' को काव्य की आत्मा बताया गया है किन्तु वस्तुतः यह काव्यजन्य आनन्द है

१. विस्तृत विश्लेषण साहित्य-विज्ञान, खंड १ मे दृष्टव्य।

जिसका आविर्भाव पाठक के हृदय में होता है जबकि काव्य की आत्मा का निवास किसी इतर पदार्थ में न होकर स्वयं काव्य में होना चाहिए। इस दृष्टि से रस काव्य की आत्मा या शक्ति नहीं है अपितु उस शक्ति का कार्य, फल या उत्पादन है—ऐसी स्थिति में उसे काव्यात्मा के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार अलंकार, रीति, वक्रोक्ति एवं ध्वनि आदि संप्रदायों में भी इन तत्त्वों को क्रमशः काव्यात्मा घोषित किया गया है जबकि दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया गया है कि अलंकार से काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न होता है तथा रीति वक्रोक्ति या ध्वनि से काव्य में शोभा, चारुता या रमणीयता का आविर्भाव होता है। यदि हम सौन्दर्य, शोभा, चारुता, रमणीयता—इन सब शब्दों का समन्वय केवल एक ही शब्द—आकर्षण—में करलें तो कहा का सकता है कि ये सब तत्त्व काव्यगत आकर्षण के साधन हैं, इन सबका साध्य आकर्षण है। ऐसी स्थिति में हम साधनों की अपेक्षा साध्य को अधिक महत्त्व देते हुए आकर्षण को ही काव्य की शक्ति या आत्मा तथा शेष सबको उस शक्ति के विभिन्न साधनों के रूप में स्वीकार करलें तो अनुचित नही होगा। शेष मतों के परीक्षण से भी यह सिद्ध होता है कि जब तक काव्य में आकर्षण-शक्ति का संचार नहीं होता, तब तक अन्य कोई भी तत्त्व—औचित्य, अनुकृति, अलंकृति, औदात्य, कल्पना आदि—काव्य की काव्यात्मकता का स्थानापन्न नही हो सकता। 'दो और दो चार होते है' यह उक्ति औचित्य से युक्त है; 'मनुष्य रात्रि में शयन करते हैं तथा दिन में कार्य करते है'—इस उक्ति में लौकिक जीवन की सही अनुकृति है; 'शकुन्तला चाँद सी सुन्दर है' इसमें अलंकृति के सभी उपकरण विद्यमान हैं; 'हमें सत्य और न्याय के लिए आत्म-बलिदान कर देना चाहिए'—इसमें औदात्य का अस्तित्व है; 'मैं पंख लगाकर आसमान में उड़ जाऊँ' इसमें कल्पना की उडान झलकती है, फिर भी आकर्षण के अभाव में हम इनमें से किसी भी उक्ति को काव्यात्मक या साहित्यिक उक्ति नही मान सकते। अतः ये सब तत्त्व साहित्य के लिए उपयोगी तो माने जा सकते है किन्तु इनमें से किसी को भी साहित्य की शक्ति के रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। साहित्य की आत्मा या शक्ति तो वस्तुतः आकर्षण शक्ति ही है।

साहित्य की शक्ति के रूप में आकर्षण-शक्ति की प्रतिष्ठा के लिए परम्परागत साहित्य-शास्त्रीय मतों के उपर्युक्त विश्लेषण के अतिरिक्त हम कुछ और आधारो को भी अपनाना उचित समझते है। अतः इसके लिए सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान एवं आधुनिक विज्ञान से सम्बन्धित कतिपय विषयों का अध्ययन अपेक्षित है। विभिन्न विषयों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आकर्षण-शक्ति का केवल एक ही रूप और एक ही क्षेत्र नहीं है; विश्व में शक्ति के जितने रूप और क्षेत्र हैं उन सभी में आकर्षण-शक्ति का अस्तित्व मिलता है। शक्ति की सामान्यतः दो अवस्थाएँ होती हैं—सुषुप्ति एवं जागृति। जहाँ भी शक्ति जागृत होकर कार्य करती

है, वहाँ वह सदा आकर्षण-विकर्षण के रूप में ही कार्य करती है; अतः शक्ति को आकर्षण-शक्ति या विकर्षण-शक्ति का भी नाम दिया जा सकता है। आकर्षण और विकर्षण एक ही क्रिया के दो पक्ष हैं—अतः इनमें से कोई एक नाम भी स्वीकार किया जा सकता है। आकर्षण शक्ति के विभिन्न रूप भौतिक विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण-शक्ति, चुम्बक शक्ति, विद्युत् शक्ति, परमाणु शक्ति आदि हैं तो जीव-विज्ञान में नर-मादा के प्रथम संपर्क से लेकर प्रथम जीव-कोष के निर्माण, भ्रूण के विकास, विभिन्न शारीरिक संस्थानों के संचालन, एवं जीवन-पर्यन्त होने वाली विभिन्न शारीरिक प्रक्रियाओं तक सब में आकर्षण शक्ति का अस्तित्व मिलता है। इसी प्रकार मानसिक क्षेत्र में भी हमारी समस्त ऐन्द्रिक, भावात्मक एवं बौद्धिक प्रक्रियाओं के मूल मे आकर्षण शक्ति विद्यमान है। यह विचित्र बात है कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न स्तरो पर आकर्षण-शक्ति विभिन्न प्रकार के माध्यमों से कार्य करती है किन्तु कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी है जो भौतिक-विज्ञान से लेकर मनोविज्ञान तक आकर्षण-शक्ति के सभी रूपों में समान रूप से पाई जाती है। हमारी अनुसंधान के अनुसार निम्नलिखित आठ प्रवृत्तियाँ ऐसी ही है—

(१) शक्ति सदा आकर्षण-विकर्षण की प्रक्रियाओं के रूप में कार्य करती है। (२) शक्ति का संगठन त्रिगुणात्मक तत्त्वों के रूप में होता है जिन्हें सामान्यतः धनात्मक (Positive) ऋणात्मक (Negative) एवं उभयात्मक (Neutral) कहा जा सकता है। (३) शक्ति के धनात्मक जाति एव ऋणात्मक जाति के तत्त्वों में परस्पर आकर्षण रहता है जबकि स्वजाति के प्रति विकर्षण रहता है। उभयात्मक तत्त्व आकर्षण-विकर्षण से मुक्त रहते है। इस दृष्टि से इन तीनों वर्गो के तत्त्वों को रोचक शैली में क्रमशः नर, मादा और नपुसक जाति के तत्त्वो की भी संज्ञा दी जा सकती है। (४) शक्ति की दो अवस्थाएँ है—जागृति एवं सुषुप्ति। जब शक्ति के त्रिगुणात्मक तत्त्व परस्पर सतुलित रहते है तो शक्ति सुषुप्त रूप में रहती है जबकि उनका संतुलन भंग होने पर शक्ति जागृत एवं सक्रिय हो जाती है। (५) सक्रिय अवस्था में शक्ति या आकर्षण-शक्ति चार प्रक्रियाओं में अपना कार्य संपादित करती है—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण, और अभिव्यक्ति। (६) आकर्षण-शक्ति विभिन्न स्तरों पर विभिन्न रूपों में कार्य करती है। (७) आकर्षण-शक्ति सदा वक्र एवं चक्राकार गति से आगे बढ़ती है। (८) शक्ति का लक्ष्य सदा अपूर्णता से पूर्णता की ओर, वैषम्य से साम्य की ओर तथा असंतुलन से संतुलन की ओर आगे बढ़ने का होता है।

उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियाँ साहित्य की आकर्षण-शक्ति में भी मिलती है।[२] इस दृष्टि से विश्व में व्याप्त आकर्षण-शक्ति से साहित्य की आकर्षण-शक्ति भिन्न नहीं है अपितु उसी का एक परिवर्तित रूप है। शक्ति के शेष रूपों से इसकी विशेषता या भिन्नता

---

२. स्पष्टीकरण साहित्य-विज्ञान प्रथम खंड में द्रष्टव्य।

यह है कि एक तो इसका स्तर मानसिक होता है और दूसरे उसका माध्यम भाषा होती है। जब मानसिक स्तर की आकर्षण-शक्ति भाषा के स्थान पर अन्य माध्यमों से व्यक्त होती है तो वह विभिन्न कलाओं—चित्र, संगीत, नृत्य आदि—का रूप धारण करती है।

अस्तु, साहित्य में आकर्षण-शक्ति के अस्तित्त्व का समर्थन एक ओर परम्परागत साहित्य-शास्त्र से एवं दूसरी ओर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित आकर्षण-सिद्धान्त से हो जाता है। इनके अतिरिक्त हमने एक तीसरा प्रमाण और प्रस्तुत किया है। वह यह है कि प्रायः सभी युगों के साहित्याचार्यों ने साहित्य की, व्याख्या, विवेचना एवं आलोचना करते हुए अनायास ही 'आकर्षण' या 'आकर्षण-शक्ति' संज्ञा का प्रयोग साहित्य की विशिष्ट क्षमता के लिए किया है। यद्यपि परंपरागत साहित्य-शास्त्र में इस नाम का कोई सिद्धान्त या तत्त्व उपलब्ध नहीं होता फिर भी सहज रूप में ही इसका उल्लेख करके इन आचार्यों ने आकर्षण सिद्धान्त को अप्रत्यक्ष रूप में मान्यता दे दी है। यह विचित्र बात है कि जहाँ रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकृति, अनुकृति, औचित्य आदि के प्रसंग में इन विद्वानों में परस्पर मत-भेद मिलता है, वहाँ आकर्षण के प्रसंग में इन्होंने मतैक्य का परिचय दिया है। वस्तुतः यह तथ्य आकर्षण-तत्त्व की व्यापकता एवं सार्वजनीनता सिद्ध करता है।

साहित्य की आकर्षण-शक्ति के विभिन्न स्तरो के आधार पर उसके तीन भेद किये जा सकते हैं—(१) भावात्मक आकर्षण (२) बौद्धिक आकर्षण एवं (३) ऐन्द्रिक आकर्षण। ये तीनों भेद मूलतः साहित्यिक रचना की विषय-वस्तु की प्रकृति एवं उसके प्रभाव की विशेषता को सूचित करते है। साहित्य की उच्चता एवं गंभीरता की दृष्टि से ये तीनों प्रकार साहित्य की उत्कृष्टता के भी क्रमशः तीन स्तरों—सर्वोच्च स्तर, उच्च स्तर एवं मध्यम स्तर—के सूचक माने जा सकते है।

(४) **साहित्य का द्रव्य या वस्तु-तत्त्व**—शक्ति का निवास द्रव्य में रहता है, अतः शक्ति और द्रव्य में भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है। यह बात साहित्य पर भी लागू होती है। साहित्य का आधारभूत द्रव्य मानसिक स्तर का होता है जिसे मुख्यतः तीन तत्त्वों—भाव (अनुभूति), विचार (तथ्य) और कल्पना के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है। इन तत्त्वों की व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान, सौन्दर्य-शास्त्र एवं परम्परागत साहित्य-शास्त्र में भी विभिन्न दृष्टिकोणों से हुई है, अतः इनके अधिक विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण के लिए इन विषयो से भी सहायता ली जा सकती है। भाव तत्त्व की मनोवैज्ञानिक व्याख्या से स्पष्ट है कि इसके व्यापक अर्थ में अनुभूति, भाव, मनोदशा, भावना, भावात्मक दृष्टिकोण, स्वभाव आदि विभिन्न मानसिक तत्त्व आते हैं, जबकि संकीर्ण अर्थ में इसका सम्बन्ध केवल भावावेग (Emotion) से ही है। इस सम्बन्ध में दूसरा तथ्य यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न भाव मूलतः आकर्षण-विकर्षण के ही विभिन्न विकसित रूप हैं। शुद्ध आकर्षण-विकर्षण

में और विभिन्न विकसित भावों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि जहाँ विभिन्न भाव अहं से मिश्रित होते हैं जबकि शुद्ध आकर्षण-विकर्षण में ऐसा नहीं होता। काव्यगत आकर्षण-विकर्षण और लौकिक भावो में इसी अन्तर के कारण दोनों की अनुभूतियों में अन्तर आ जाता है ; जहाँ काव्यानुभूति सर्वत्र आनन्दमयी होती है वहाँ लौकिक अनुभूतियों में आनन्द का प्रायः अभाव रहता है।

कला एवं साहित्य सम्बन्धी भावों के सम्बन्ध में सौन्दर्य-शास्त्रीय विद्वानों के विभिन्न मतों को हम मुख्यतः पाँच वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भावोद्दीप्ति-वादी वर्ग, जो कला का लक्ष्य भावो का उद्दीपन मानता है। (२) भावावलम्बनवादी वर्ग, जो कला में भावों को विषय-वस्तु या आलम्बन के रूप में स्थान देता है। (३) भावानुभव वादी वर्ग—यह वर्ग कला या साहित्य को भावानुभूति का ही एक रूप मानता है। (४) भावाभिव्यक्ति वादी वर्ग—इस वर्ग के विद्वान कला को भावाभि-व्यक्ति का माध्यम मानते है। (५) भाव-प्रेपणवादी वर्ग—इस वर्ग के विद्वानो की मान्यता के अनुसार कला का लक्ष्य भावों का प्रेषण करना है। इन पाँचों वर्गो में सौन्दर्य-शास्त्र के शताधिक विद्वानो के मत आ जाते है जिनका विवेचन एवं विश्लेषण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आंशिक रूप मे ये सभी मत ठीक हैं। किन्तु साथ ही सभी मत अपूर्ण भी है। भावो के उद्दीपन, अवलम्बन, अनुभव, अभि-व्यंजन एवं प्रेषण—इन सभी व्यापारों का कला से सम्बन्ध है, अतः इनमें से किसी को भी उपेक्षणीय नही कहा जा सकता। वस्तुत ये पाँचो व्यापार एक ही क्रिया के विभिन्न उपभेद है, जिस प्रकार 'स्नान' के अन्तर्गत जल को शरीर पर डालना, साबुन लगाना, शरीर को पौछना आदि व्यापारो का समावेश हो जाता है वैसे ही आकर्षण शक्ति के अन्तर्गत इन सभी का समन्वय हो जाता है। जैसा कि हमने पीछे कहा है, साहित्य एवं कलाओं के प्रसंग में भाव को भाव न कहकर आकर्षण कहना अधिक उचित है क्योंकि भाव अहं से युक्त होते है जबकि साहित्य में वे अहं-शून्य हो जाने के कारण आकर्षण के रूप मे परिणत हो जाते है। साहित्य में आकर्षण-शक्ति की चार प्रक्रियाएँ संपन्न होती है—संयोजन, सप्रेषण, द्रवण और अभिव्यक्ति। इन्ही चारों प्रक्रियाओं में उपर्युक्त भाव सम्बन्धी विभिन्न वादों का समन्वय हो जाता है ; देखिये—(१) संयोजन के अन्तर्गत भावावलम्बन वाद एव भावानुभव वाद का। (२) सप्रेषण के अन्तर्गत भाव-प्रेषण वाद का। (३) द्रवण के अन्तर्गत भावोद्दीपन वाद का। (४) अभिव्यक्ति में भावाभिव्यक्ति वाद का। इस दृष्टि से इन चारो ही प्रक्रियाओ का महत्त्व है तथा ये परस्पर-पूरक है। उच्चकोटि के काव्य मे ये चारो ही प्रक्रियाएँ सपन्न होती है किन्तु सौन्दर्य-शास्त्र के विभिन्न वादियो ने किसी एक को ही महत्त्व देकर तथा शेष की उपेक्षा करके उचित नही किया। अस्तु, सौन्दर्य-शास्त्र के भाव सम्बन्धी विभिन्न मतों का समन्वय आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत हो जाता है।

भावों की काव्य-शास्त्रीय व्याख्या करते हुए हम सर्वप्रथम भारतीय रस-सिद्धान्त

को ले सकते हैं, क्योंकि यह साहित्य में भावों को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का केन्द्रीय तत्त्व भाव या स्थायी भाव है तथा शेष सामग्री उसी के विभिन्न अवयवों—विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव—के रूप में प्रस्तुत होती है। इस प्रकार साहित्य की सामग्री को रस के चार अवयवों—स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव (आलम्बन एवं उद्दीपन) और अनुभाव के अन्तर्गत विश्लिष्ट किया जा सकता है। आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर इन अवयवों का विवेचन, विश्लेषण एवं संशोधन करते हुए हमने इनके सम्बन्ध में निम्नांकित निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं—स्थायी भाव की सीमा में आधुनिक मनोविज्ञान के मूलभाव (Primary emotion), मनोदशा (Mood), भावना (Sentiment), चारित्रिक प्रवृत्ति (Tendency), एवं सहज प्रवृत्ति (Instinct) को स्थान दिया जा सकता है। (२) संचारी भाव के अन्तर्गत मनोविज्ञान के व्युत्पन्न भावों (Derived emotions) एवं अनुभूतियों (Feelings) को स्थान दिया जा सकता है। (३) आलम्बन विभाव के अन्तर्गत केवल व्यक्ति-विशेष को ही नहीं, आश्रय के लक्ष्य से सम्बन्धित वस्तु, विचार, प्रयोजन आदि को भी लिया जाना चाहिए। (४) उद्दीपन विभाव में केवल प्राकृतिक वातावरण ही नही, वे सब परिस्थितियाँ एवं घटनाएँ ली जा सकती हैं जो कि भावोद्दीपन में सहयोग देती है। (५) अनुभाव में पात्रों की केवल स्थूल चेष्टाएँ ही नही अपितु वे सब कार्य-व्यापार लिये जा सकते हैं जो किसी भी भाव, भावना या मनोवृत्ति से सम्बद्ध हों। इस प्रकार नई व्याख्या से रस-सिद्धान्त आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल तथा व्यावहारिक दृष्टि से अधिक स्पष्ट एवं व्यापक हो जाता है।

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में भी काव्यगत भावों को पर्याप्त महत्त्व दिया गया है किन्तु उसमें रस-सिद्धान्त जैसे किसी व्यवस्थित सिद्धान्त की स्थापना नहीं हो सकी, अतः इस क्षेत्र में उसकी देन नगण्य है।

(५) **भाव-प्रधान साहित्य**—जिस काव्य या साहित्य में विचार और कल्पना की अपेक्षा भावों की प्रधानता हो, उसे हमने 'भाव-प्रधान साहित्य' की संज्ञा दी है। भाव-प्रधान साहित्य को विचार-प्रधान एवं कल्पना-प्रधान साहित्य से पृथक करने के लिए उसकी तीन सीमाएँ मानी जा सकती है—(१) भाव-प्रधान साहित्य में रचयिता का मूल लक्ष्य भाव-विशेष की अभिव्यक्ति करना होता है। (२) भाव-प्रधान साहित्य में केन्द्रीय तत्त्व भाव ही होता है, शेष सब तत्त्व उसी के सहयोगी या अनुचर होते हैं। (३) भाव-प्रधान साहित्य से पाठक की बुद्धि की अपेक्षा उसकी भावनाएँ अधिक प्रभावित होती है। इस प्रकार भाव-प्रधान साहित्य में रचयिता के लक्ष्य, रचनागत तत्त्वों एवं पाठक की अनुभूति—इन तीनों की दृष्टि से भाव की प्रमुखता रहती है। भाव-प्रधान साहित्य को अनेक उपभेदों में भी विभाजित किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में हम भारतीय रस-सिद्धान्त से सहायता ले सकते हैं क्योंकि उसमें स्थायी

भाव के आधार पर साहित्य का वर्गीकरण किया गया है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त अनिश्चित एवं अस्पष्ट है। एक तो स्थायी भावों की संख्या के सम्बन्ध में ही विद्वानों में परस्पर मत-भेद है। मूलतः आठ या नौ भावों को स्थायी भाव के रूप में स्वीकार किया गया था, किन्तु आगे चलकर स्थिति बदल गई। एक ओर कुछ विद्वानों ने सभी स्थायी भावों को किसी एक ही स्थायी भाव में समन्वित कर देने का प्रयास किया है तो दूसरी ओर विभिन्न विद्वानो ने विभिन्न नये-नये स्थायी भावो की उद्-भावना की है जिससे इनकी संख्या पच्चीस तक पहुँच जाती है। ऐसी स्थिति मे किस मत को आधार बनाया जाय—यह समस्या है! इसके समाधान के लिए सबसे पूर्व स्थायी भाव की एक सामान्य कसौटी तैयार करने की आवश्यकता है, जिससे यह निर्णय किया जा सके कि किसे स्थायी भाव माना जाय और किसे नहीं। इस सम्बन्ध में एक प्रयास आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी कर चुके हैं। उन्होने स्थायी भाव की कसौटी निर्धारित करते हुए लिखा—"साहित्य में आचार्यों का सारा भाव-निरूपण रस की दृष्टि से है—अर्थात् किसी भाव की व्यंजना से श्रोता या दर्शक में भी उसी भाव की सी प्रतीति के विचार से—किया गया है। अतः जो भाव ऐसे है जिन्हें किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुन कर दर्शक या श्रोता भी उन्ही भावों का सा अनुभव कर सकते है वे तो प्रधान भावों में रखे गये हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गये है।"[3] इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने आस्वाद्यत्व को ही प्रधान भाव या स्थायी भाव की कसौटी माना है किन्तु जाँच करने पर यह कसौटी अप्रामाणिक सिद्ध होती है। सफल कवि एवं कुशल अभिनेता के हाथो पड़ कर साहित्य का प्रत्येक भाव आस्वाद्य एवं सवेद्य हो जाता है, भले ही वह प्रमुख हो या गौण, स्थायी हो या संचारी। यदि ऐसा न होता तो काव्य की विषय-वस्तु का साधारणीकरण होना स्वीकार नहीं किया जाता। साधारणीकरण के सिद्धान्त के अनुसार कवि के द्वारा व्यक्त सभी भाव संवेद्य एवं आस्वाद्य होते हैं। अतः आचार्य शुक्ल के द्वारा प्रस्तुत कसौटी के अनुसार तो हम प्रत्येक भाव को स्थायीभाव मान सकते है, जो ठीक नही।

स्थायीभाव की कसौटी के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वे भाव-दशाएँ और भावात्मक प्रवृत्तियाँ जो व्युत्पन्न भावों (Derived emotions) एवं अनुभूतियों (Feeling) से अधिक स्थिर एवं गंभीर है, स्थायीभाव के क्षेत्र में आती है। स्थायी भाव के क्षेत्र में आने वाली भाव-दशाओं और भावात्मक प्रवृत्तियों को भी आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर अनेक स्तर-भेदों में—जैसे सहज प्रवृत्ति, भावना, मूलभाव आदि में बाँटा जा सकता है। वस्तुतः एक ही सहज प्रवृत्ति परिस्थिति भेद से अनेक भावनाओं और मूल भावों में

---

३. रस-मीमांसा : रामचद्र शुक्ल, पृ० २०२।

विकसित हो जाती है। किन्तु सहज प्रवृत्तियों की संख्या के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतैक्य का अभाव है। इस सम्बन्ध में हमने विभिन्न मतों का समन्वय करते हुए सहज प्रवृत्तियों एवं तत्सम्बन्धी भावनाओं एवं मूल भावों की संख्या निर्धारित करने का प्रयास किया है। जिसके अनुसार सभी सहज प्रवृत्तियाँ छह प्रमुख सहज प्रवृत्तियों में समन्वित हो जाती हैं। इन सहज प्रवृत्तियों का विकास परिस्थिति भेद से लगभग तीस भावनाओं में हो जाता है, किन्तु ये सभी भावनाएँ लगभग दस मूल भावों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। इस प्रकार स्थायी भाव के तीन प्रमुख स्तरों को सहज प्रवृत्तियों की दृष्टि से छह भेदों में, भावनाओं की दृष्टि से तीस भेदों में और मूल-भावों की दृष्टि से दस भेदों में विभक्त कर सकते है। इनमें से हम किसी भी स्तर को अपनायें वह अवैज्ञानिक नही होगा। जिस प्रकार भारतवर्ष को हम दिशाओं की दृष्टि से चार खंडों में—उत्तर भारत, दक्षिण भारत, पूर्व भारत और पश्चिम भारत—प्रान्तों की दृष्टि से बीस में (या जितने भी हों) तथा जिलों की दृष्टि से शताधिक खडों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें से कोई भी विभाजन अवैज्ञानिक नही होगा, इसी प्रकार स्थायी भावो को भी विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न भेदों मेंबाँटा जा सकता है। जो वर्गीकरण को विस्तार देना चाहते है वे भावनाओं को आधार बना सकते है, जबकि संक्षेप के लिए सहज प्रवृत्तियों का आधार ठीक है। यदि इस वर्गीकरण को और भी संक्षिप्त करना चाहें तो सभी सहज प्रवृत्तियों को दो ही मूल प्रवृत्तियो—आकर्षण मूलक एवं विकर्षण मूलक—में समन्वित कर सकते हैं। इस दृष्टि से स्थायी भावों की सख्या में विस्तार और संकोच—दोनों प्रकार के प्रयास आवश्यकतानुसार उपर्युक्त आधारो पर किये जा सकते हैं।

भाव-प्रधान साहित्य के सम्बन्ध में अन्य उल्लेखनीय निष्कर्ष ये हैं—(१) भाव-प्रधान साहित्य में साहित्यकार विषय-वस्तु के प्रति स्वयं भावात्मक आकर्षण अनुभव करता हुआ, उसी की प्रेरणा से आकर्षण शक्ति की चारों प्रक्रियाओं—संयोजन, संप्रेषण, द्रवण एवं अभिव्यक्ति—के माध्यम से साहित्य-सर्जन करता है। यही तथ्य भाव-प्रधान साहित्य में भावात्मक आकर्षण के संचार का आधार है। (२) भाव-प्रधान साहित्य में जब भावात्मक आकर्षण के केन्द्र में कोई एक सहज प्रवृत्ति, भावना या मूल भाव रहेगा तथा शेष भाव इसी के अंग रूप में नियोजित रहेंगे तो उसी स्थिति में भावात्मक आकर्षण प्रबल हो सकेगा अन्यथा वह छिन्न-भिन्न होकर प्रभाव-शून्य हो सकता है। (३) केन्द्रीय भाव से सम्बन्धित सहज प्रवृत्ति जितनी अधिक गंभीर होगी उसमें उतनी ही अधिक गंभीरता आने की संभावना रहेगी। (४) केन्दीय भाव का विकास जितनी अधिक व्युत्पन्न भाव-दशाओं एवं अनुभूतियों के द्वारा सहज रूप में दिखाया जायगा, उतना ही आकर्षण दृढ एवं गंभीर हो सकेगा।

वस्तुतः भाव-प्रधान साहित्य की विवेचना करते हुए हमने रस-सिद्धान्त

को आधुनिक मनोविज्ञान एवं आकर्षण-सिद्धान्त के आधार पर अधिक संगत, व्यापक एवं परिष्कृत रूप देने का प्रयास किया है ।

(६) **विचार तत्त्व**—भाव के अनन्तर साहित्य का दूसरा तत्त्व विचार है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार के चार सामान्य लक्षण बताये जा सकते हैं—(१) विचार का सम्बन्ध सदा किसी न किसी समस्या, लक्ष्य या उद्देश्य से रहता है । (२) विचार के सामान्यतः दो लक्ष्य होते है—सत्य का अनुसंधान या नयी योजना का आविष्कार । (३) विचार में सदा पूर्व अनुभवों का उपयोग नये रूप मे होता है । (४) विचार सदा स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है । मनो विज्ञान के आधार पर विचार के तीन स्तर-भेद भी किये जाते हैं—(१) प्रत्यक्षात्मक विचार (Perception) (२) कल्पनात्मक विचार (Manipulation) और (३) प्रत्ययात्मक विचार (Coception) । तर्क-शास्त्र की दृष्टि से विचार की दो पद्धतियाँ मानी जाती है—आगमनात्मक एवं निगमनात्मक । अस्तु, मनोविज्ञान एवं तर्क-शास्त्र के आधार पर विचार के सामान्य रूप का अध्ययन करने के अनन्तर उसका साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि शुद्ध रूप में विचार को साहित्य में कोई स्थान नही दिया जा सकता, उसे भावानुभूति एवं कल्पना के सहयोग से ही साहित्य में प्रस्तुत किया जा सकता है । जिस प्रकार दार्शनिक या वैज्ञानिक अनुभूति को सामान्यीकरण की पद्धति के द्वारा शुद्ध विचार में परिणत करता है, उसी प्रकार एक साहित्यकार पुनः उसे विशेषीकरण द्वारा अनुभूति में परिणत करके साहित्यिक रूप प्रदान करता है । सामान्यतः साहित्य में विचार तत्त्व को तीन विधियों से प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) एक विचार को अन्य विचार के सहयोग से । (२) विचार को भाव के सहयोग से । (३) विचार को कल्पना के सहयोग से । इनमें प्रथम विधि का उपयोग सामान्य नीति-काव्य (सूक्तियो) मे होता है जिसे काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, जबकि शेष दो विधियाँ उच्चकोटि के साहित्य में प्रयुक्त होती है ।

परम्परागत साहित्य-शास्त्र में 'विचार-प्रधान साहित्य' जैसा कोई स्पष्ट भेद नही मिलता किन्तु उसमे कुछ सिद्धान्त अवश्य ऐसे मिलते है जो मुख्यतः इसी वर्ग के साहित्य पर लागू होते है । इनमें तीन सिद्धान्त विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—औचित्य, उदात्त और शान्त रस । विचारो का आस्वादन हृदय की अपेक्षा बुद्धि के माध्यम से अधिक होता है तथा बुद्धि किसी भी बात को औचित्य के आधार पर ही ग्रहण करती है, अतः औचित्य का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध विचार-प्रधान साहित्य से है उतना भाव-प्रधान से नहीं है । इसी प्रकार औदात्य का सम्बन्ध भी विचारों से अधिक है । रस-सिद्धान्त के आचार्यों की 'शान्तरस' की कल्पना भी विचार-प्रधान साहित्य पर आधृत है । जहाँ अन्य रसों में भावना-विशेष केन्द्र में रहती है वहाँ इसमें विचार-विशेष की अनुभूति रहती है—इसीलिए शान्तरस के

स्थायी भाव का अभी तक कोई एक निर्णय नहीं हो पाया। विभिन्न आचार्यों ने शम, निर्वेद, सम्यक्-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान, तृष्णा-क्षय-सुख, सर्वचित्तवृत्ति-प्रशम आदि को शान्तरस का स्थायी भाव माना है जो स्पष्ट नहीं है। हमारे विचार से बौद्धिक विषय में तल्लीनताजन्य शान्ति या आनन्द ही शान्त रस का स्थायी भाव है। बौद्धिक आनन्द की अनुभूति के समय हमारा मन राग-द्वेष से शून्य रहता है, चितवृत्तियाँ शान्त रहती हैं, तृष्णाएँ क्षीण हो जाती हैं, तत्त्व-ज्ञान या सम्यक् ज्ञान का बोध होता है। अस्तु, विचार-प्रधान साहित्य के आस्वादन से प्राप्त शान्ति ही शान्त रस है। इस प्रकार स्पष्ट है कि औचित्य, उदात्त एवं शान्त रस—ये तीनों सिद्धान्त विचार-प्रधान साहित्य की ही विभिन्न विशेषताओ की व्याख्या करते है। इन्हें भाव-प्रधान साहित्य में भी उसी सीमा तक लागू किया जा सकता है जिस सीमा तक उसमें विचारो का स्थान है। चूँकि भाव-प्रधान साहित्य मे विचार गौण रूप में ही आते हैं, अतः वहाँ इन तत्त्वों का भी स्थान गौण है। वस्तुतः जिस प्रकार रस-सिद्धान्त (शान्त रस को छोड़कर) का असली क्षेत्र भाव-प्रधान साहित्य है, वैसे ही इन सिद्धान्तों का मुख्य क्षेत्र विचार-प्रधान साहित्य है।

(७) **कल्पना तत्व**—साहित्य का तीसरा तत्त्व कल्पना है। सामान्यतः इसकी परिभाषा करते हुए कहा जा सकता है कि कल्पना एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो वस्तुओं की अनुपस्थिति में या अप्रत्यक्ष पदार्थों के विषय में चिन्तन मनन करती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कल्पना के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए उसके ये सामान्य लक्षण निर्धारित किये जा सकते है—(१) कल्पना पूर्व अनुभूतियों पर आधारित होती है। (२) कल्पना भविष्य की ओर उन्मुख होती है। (३) कल्पना की क्रिया इच्छा प्रेरित होती है। (४) कल्पना स्वच्छन्द (बुद्धि के नियंत्रण से मुक्त) होती है। (५) कल्पना का आलम्बन अप्रत्यक्ष होता है। (६) कल्पना की आधार-भूत सामग्री बिम्बों (Images) के रूप मे मस्तिष्क में संचित रहती है। (७) कल्पना का कार्य अतीत अनुभवों को नया रूप प्रदान करना या पूर्व उपलब्ध ज्ञान-सामग्री को नये रूप में प्रस्तुत करना होता है। सामान्यतः कल्पना और बिम्ब-विधान को एक ही मान लिया जाता है किन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इनमें सूक्ष्म अन्तर है। बिम्ब-विधान में वस्तुओं का ऐन्द्रिक प्रभाव मूल रूप मे विद्यमान रहता है जबकि कल्पना उन्हें नया रूप प्रदान करती है। बिम्ब केवल अनुकृति प्रस्तुत करते है जबकि कल्पना नव-सर्जन करती है। अवश्य ही कल्पना बिम्बोंकी सहायता लेती है फिर भी दोनों को एक ही नहीं माना जा सकता।

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना के विभिन्न भेदोपभेद भी किये हैं, किन्तु साहित्य का सम्बन्ध मुख्यतः सौन्दर्योन्मुख सर्जनात्मक कल्पना से है। यह रूप कल्पना के अन्य रूपों की अपेक्षा अधिक मौलिक, स्वतन्त्र एवं आनन्ददायक होता है।

कल्पना के सम्बन्ध में उपलब्ध विभिन्न मनोवैज्ञानिक निष्कर्षों की पुष्टि

साहित्य-शास्त्र के आधार पर भी होती है। विभिन्न साहित्याचार्यों ने भी कल्पना के वे ही लक्षण स्वीकार किये हैं जो कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा बताये जाते हैं।

साहित्य-सर्जन में कल्पना के योग-दान को पाँच प्रक्रिओं के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—(१) द्रव्य को अचेतन-स्तर से चेतन-स्तर पर प्रस्तुत करना। (२) उपलब्ध द्रव्य का विस्तार (३) नये द्रव्य का आविर्भाव या रूपान्तरण (४) द्रव्य को अनुभूतिगम्य बनाना (५) विषय-वस्तु को देश-काल एवं व्यक्ति के सम्बन्धों से मुक्त करना। वस्तुतः कल्पना की इन्हीं पाँचों प्रक्रियाओं के सहयोग से साहित्य का सर्जन होता है।

जिस साहित्य में भाव एवं विचार की अपेक्षा कल्पना की प्रमुखता हो उसे 'कल्पना-प्रधान साहित्य' कहा जा सकता है। इस साहित्य के विश्लेषण से तीन प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—(१) बिम्बात्मकता की प्रवृत्ति (२) अत्युक्ति एवं अस्वाभाविकता की प्रवृत्ति (३) अप्रस्तुत पक्ष की प्रधानता की प्रवृत्ति। वस्तुतः ये प्रवृत्तियाँ कल्पना-प्रधान साहित्य के दुर्बल पक्ष को सूचित करती हैं। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तथ्यों पर आधारित एवं अनुभूति से संवलित कल्पना ही उच्च कोटि के साहित्य के सर्जन में सफल होती है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न तत्त्वों की प्रमुखता की दृष्टि से साहित्य के तीन भेद—(१) भाव-प्रधान, (२) विचार-प्रधान एवं (३) कल्पना-प्रधान—हो जाते है जिनका क्रमशः आकर्षण शक्ति के तीन भेदों--भावात्मक आकर्षण, बौद्धिक आकर्षण एवं ऐन्द्रिक आकर्षण—से सम्बन्ध है।

(८) **साहित्य का रूप या शैली**—हिन्दी में सामान्यतः रूप और शैली को भिन्न-भिन्न माना जाता है जबकि हमारे विश्लेषण के अनुसार दोनों में विशेष अन्तर नही है। 'रूप' अधिक व्यापक एवं बहु-प्रचलित शब्द है जिसका प्रयोग सभी क्षेत्रो में होता है जबकि 'शैली' का प्रयोग मुख्यतः कलाओं के ही प्रसंग में होता है। साहित्य के रूप का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है—एक, साहित्य के रूप की उन विशेषताओं का अध्ययन जो असाहित्यिक रचनाओं में नहीं मिलती। दूसरा, साहित्य के भी विभिन्न रूपों के पारस्परिक अन्तर का अध्ययन। प्रथम प्रकार को हम साहित्य के सामान्य रूप का अध्ययन कह सकते है। यह अध्ययन 'शैली' के अन्तर्गत आता है जबकि विभिन्न रूपों के पारस्परिक अन्तर को हम रूप-भेदों (जैसे, नाटक, कविता, उपन्यास, निबन्ध आदि) या रूप के वर्गीकरण के अन्तर्गत स्थान दे सकते हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में केवल साहित्य के समान्य रूप (शैली) का ही अध्ययन किया गया है।

साहित्यिक दृष्टि से 'रूप' का अनुशीलन करने से पूर्व हमें विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन एवं सौन्दर्य-शास्त्र के आधार पर इसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ समझ लेनी चाहिये। शाब्दिक दृष्टि से हिन्दी का 'रूप' अँगरेजी के 'फार्म' (Form) का समानार्थक है। वैसे लाक्षणिक प्रयोगों में 'रूप' का प्रयोग अन्य अर्थों में भी होता है किन्तु

उनसे यहाँ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। हमने यहाँ 'रूप' का प्रयोग उसी सीमित अर्थ में किया है जो 'फार्म' की सीमा में आता है तथा जिसमें किसी वस्तु की बनावट, संघटन, अवस्था, दशा, आदि से सम्बन्धित विभिन्न विशेषताओं का समावेश होता है। भौतिक विज्ञान की दृष्टि से किसी भी द्रव्य या पदार्थ में दो प्रकार के गुण माने जाते है—(१) रासायनिक गुण (Chemical properties) (२) भौतिक गुण (Physical properties) रूप के अन्तर्गत हम सामान्यतः भौतिक गुणों को ले सकते हैं जो कि बाह्य एवं परिवर्तनशील होते है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से रूप द्रव्य की वह विशेषता है जिसे व्यक्ति संवेदित करता है। रूप का इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध है—हमारी इन्द्रियाँ किसी वस्तु के जिस पक्ष का प्रत्यक्ष रूप में बोध करती है, वही उसका रूप है। कई बार वस्तु से इन्द्रियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही रहता, उनके बीच कोई अन्य माध्यम या आवरण उपस्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति में मनोविज्ञान के अनुसार हम उस क्षण के लिए उक्त माध्यम या आवरण को भी वस्तु का रूप मान सकते हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि वस्तु के जिस पक्ष, आवरण या माध्यम से हमारी संवेदनाओं का निकटतम प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, मनोविज्ञान के अनुसार वही उस वस्तु का रूप है।

भारतीय दर्शन के अनुसार 'रूप' द्रव्य की प्रातिभासिक सत्ता है जो मिथ्या एवं परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन दो प्रकार का होता है—विवर्त्त और परिणाम। एक रूप का अन्य रूप में परिवर्तन 'विवर्त्त' मात्र है जबकि रूप के साथ द्रव्य के भी गुणों का परिवर्तन 'परिणाम' है। वेदान्त के अनुसार रूप-परिवर्तन ही सृष्टि से विकास का आधार, प्रकृति का एक मात्र कार्य और हमारे समस्त आकर्षण-विकर्षण या सुख-दुःख का आधार है।

पाश्चात्य दर्शन मे रूप के सम्बन्ध में चार दृष्टिकोण मिलते है, किन्तु उनका विश्लेषण करने पर अन्ततः हम उन्ही निष्कर्षो पर पहुँचते है, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

सौन्दर्य-शास्त्र में कला के रूप या कलात्मक रूप की मीमांसा बड़े विस्तार से हुई है। विभिन्न विद्वानों ने रूप की विभिन्न परिभाषाएँ दी है, जिनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कलात्मक रूप के अन्तर्गत विषय-वस्तु की अन्विति, संयोजना, अभि-व्यंजना एवं प्रस्तुतीकरण सम्बन्धी सभी प्रकार के वैशिष्ट्य को स्थान दिया जा सकता है। इस दृष्टि से काव्य-कला के क्षेत्र में छन्द, तुक, अलंकार, रीति शैली आदि से सम्बन्धित सभी विशेषताओं को रूप के अन्तर्गत लिया जा सकता है। वस्तुः कला में जो कुछ कथ्य है, वह उसका द्रव्य या विषय है जबकि कथन-विधि से सम्बन्धित सभी विशिष्ट तत्त्व रूप या शैली के अन्तर्गत आते हैं।

सौन्दर्य-शास्त्र के अनुसार कला में रूप-विधान का लक्ष्य सौन्दर्य या आकर्षण की उत्पत्ति करना है। कला का मूल द्रव्य सुन्दर हो, यह आवश्यक नहीं किन्तु उसे

सुन्दर रूप में प्रस्तुत करना नितान्त आवश्यक है। कलाकार असुन्दर को भी सुन्दर में परिणत कर सकता है। कला में रूप-विधान का आदर्श प्रकृति को माना जाता है क्योंकि अरस्तू के मतानुसार प्रकृति की ही अनुकृति कला है। किन्तु परिवर्ती आचार्यों ने कुछ अन्य तत्त्वों की भी खोज की है जो कला मे सौन्दर्य-सृष्टि के साधन माने जा सकते है, जैसे, सामंजस्य, क्रमबद्धता, अनुपात, संतुलन, वक्रता, औचित्य, आवयविक एकता आदि। इस प्रकार सौन्दर्य-शास्त्र से रूप के विभिन्न पक्षों एवं तत्त्वों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

अस्तु, भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन एवं सौन्दर्य-शास्त्र के आधार पर रूप का सामान्य अध्ययन कर लेने के अनन्तर हम विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से रूप का विश्लेषण कर सकते हैं। जैसा कि पीछे स्पष्ट किया गया है, साहित्य के रूप की सामान्य विशेषताओं को ही 'शैली' कहा जाता है। 'शैली' की व्युत्पत्ति एवं उसकी विभिन्न परिभाषाओं का विश्लेषण करने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अभिव्यंजना-पद्धति का वैशिष्ट्य ही शैली है। साहित्य-शास्त्र में 'शैली' से मिलते-जुलते कई और शब्द भी प्रचलित है, जैसे, रीति, वृत्ति और प्रवृत्ति। शैली के स्पष्टीकरण के लिए यह अपेक्षित है कि हम इन सबका पारस्परिक अन्तर स्पष्ट कर लें। इस दृष्टि से विचार करने पर अन्त में इस निष्कर्ष की उपलब्धि होती है कि रीति सामान्य कार्य-पद्धति है जबकि शैली व्यक्ति-भेद पर आधारित विशिष्ट पद्धति है। रीति का उद्भव पूर्व-नियोजना में रहता है जबकि शैली के मूल में मौलिक प्रयास रहता है। रीति का लक्ष्य जहाँ कार्य को शुद्धता, वैधता एवं पूर्णता प्रदान करने का रहता है वहाँ शैली उसमें नवीनता, चमत्कार एवं विशिष्टता लाना चाहती है। रीति की प्रकृति आदर्शवादी एवं मर्यादावादी है जबकि शैली स्वच्छन्दतावाद को अपनाती है। रीति चिरन्तन और स्थायी तत्त्वों की ओर उन्मुख होती है जबकि शैली क्षणिक एवं सामयिक प्रवृत्तियों से प्रभावित होती है। रीति का क्षेत्र शास्त्र, विज्ञान एवं लोक-व्यवहार है जबकि शैली का सम्बन्ध मुख्यतः कला और साहित्य सम्बन्धी क्षेत्रों से है। इस प्रकार स्वरूप, उद्भव, लक्ष्य, प्रकृति, प्रवृत्ति एवं क्षेत्र की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है, किन्तु इसका यह भी तात्पर्य नही है कि दोनों सर्वथा एक-दूसरी की विरोधी ही हैं। वस्तुतः ऐसा नही है दोनों एक दूसरी की सहायक एव पूरक हैं। दोनो के निर्माण, विकास एवं क्रिया-कलापों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ रीति का अध्ययन शैली को विकसित करता है, वहाँ शैलियो के सामान्यीकरण द्वारा रीति की प्रतिष्ठा होती है। एक व्यक्ति की शैली ही परवर्ती लेखक के लिए 'रीति' बन सकती है, तो प्रत्येक रीति का व्यावहारिक रूप ही 'शैली' की संज्ञा प्राप्त कर सकता है। अस्तु, रीति और शैली में मूलतः अन्तर होते हुए भी अन्ततः दोनो सह-योगिनी एवं एक-दूसरी की पूरक हैं।

वृत्ति, प्रवृत्ति एवं शैली का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता

है कि 'वृत्ति' व्यक्ति का सूक्ष्म अंतरंग तत्त्व है, जिसकी अभिव्यक्ति 'प्रवृत्ति' में होती है । किसी व्यक्ति की प्रवृत्तियों से ही उसकी वृत्तियों का ज्ञान होता है, प्रवृत्ति क्या है ? व्यक्ति के कार्य की एक विशेषता ही प्रवृत्ति हैं, जबकि अनेक विशेषताओं या प्रवृत्तियों का समुच्चय ही 'शैली' है । अस्तु, संक्षेप मे कहा जा सकता है कि 'वृत्ति' अंतरंग तत्त्व है, उसका व्यक्त रूप 'प्रवृत्ति' है, प्रवृत्तियों का समूह 'शैली' है और शैलियों का सामान्यीकृत रूप 'रीति' है ।

(६) **शैली के चार स्रोत**—शैली का स्वरूप स्पष्ट कर लेने के अनन्तर उसके उद्गम-स्रोतों या आधार-स्रोतों की व्याख्या की जा सकती है । हमारे विश्लेषण के अनुसार शैली के ये चार स्रोत माने जा सकते है—

(१) व्यक्ति (लेखक) का वैशिष्ट्य (२) विषय-वैशिष्ट्य (३) भाषा-वैशिष्ट्य और (४) पाठक-वैशिष्ट्य । इन्ही चारो स्रोतों से शैलीगत वैशिष्ट्य का आविर्भाव होता है । अरस्तू के कारण-वाद के अनुसार इन चारों स्रोतों को क्रमशः इन चार कारणों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है—(१) योग्यतापरक कारण (Efficient cause) (२) वस्तुगत कारण (Material cause) (३) रूपात्मक कारण (Formal cause) (४) प्रयोजनमूलक कारण (Final cause) । वस्तुतः शैली के वैशिष्ट्य की सम्यक् व्याख्या के लिए इन चारो स्रोतो की विस्तृत व्याख्या अपेक्षित है ।

सबसे पहला स्रोत व्यक्ति-वैशिष्ट्य या व्यक्तित्व (Personality) है । मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्तित्व का विश्लेषण बड़े विस्तार से किया है किन्तु इसके स्वरूप एवं क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई एक निश्चित मत नहीं मिलता । व्यक्तित्व की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है—अतः हमारे सामने यह समस्या उपस्थित होती है कि प्रस्तुत प्रसंग में हम किस व्याख्या को स्वीकार करे । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि हम पहले व्यक्तित्व सम्बन्धी विभिन्न मतों का अनुशीलन करते हुए उसकी एक सामान्य परिभाषा एवं उसका क्षेत्र निश्चित करलें । ऐसा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'व्यक्ति' की भाववाचक संज्ञा ही 'व्यक्तित्व' है, अतः इसमें उन सब गुणों एवं विशेषताओं को लिया जा सकता है जिनका सम्बन्ध व्यक्ति से संभव है । इस दृष्टि से व्यक्तित्व के चार पक्ष माने जा सकते हैं—(१) शारीरिक पक्ष (२) बौद्धिक पक्ष (३) भावात्मक पक्ष और (४) चारित्रिक पक्ष । इन चारों पक्षों के आधार पर शैली का विवेचन करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन सभी पक्षों का शैली से न्यूनाधिक सम्बन्ध है, यह लेखक की परिस्थिति एवं विषय की प्रकृति पर निर्भर है कि कहाँ कौन-सा पक्ष अधिक उभर जाय । फिर भी इनमें शारीरिक पक्ष की अपेक्षा अंतिम तीन पक्षों का अधिक महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है ।

शैली का दूसरा स्रोत विषय-वैशिष्ट्य है । जिस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न प्रकार का व्यवहार कर सकता है, वैसे ही एक ही लेखक विभिन्न

विषयों में विभिन्न प्रकार की शैलियाँ अपना सकता है। किन्तु कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने शैली को केवल व्यक्तित्व से ही सम्बद्ध घोषित करके इस स्रोत की बिल्कुल उपेक्षा कर दी, जो ठीक नही। हमने विषय-वस्तु के विभिन्न अवयवों का विश्लेषण करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि किन अवयवो की प्रमुखता होने पर शैली में कौन सी विशिष्टता आ सकती है। स्थूल रूप से हम विषय के छह अवयवों—दृश्य, पात्र, विचार, घटना, परिस्थिति एव भाव—का सम्बन्ध क्रमश: छह प्रकार की शैलियों से स्थापित कर सकते है। वे ये है—वर्णनात्मक, चित्रणात्मक, विवेचनात्मक, विवरणात्मक, व्याख्यात्मक और भावात्मक। इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि जहाँ किसी लेखक की विपय-वस्तु मे बाह्य दृश्यों की अधिकता होती है वहाँ उसकी शैली वर्णनात्मक हो जाती है जबकि विचारो की प्रमुखता होने पर विवेचनात्मक हो जाती है। यही बात अन्य शैलियो पर लागू होती है। सम्भवत: कुछ अन्य कारणो से इसके अपवाद मिल सकते है, किन्तु सामान्य रूप में यह स्वीकार किया जा सकता है कि शैलीगत वैशिष्ट्य मे विषय का वैशिष्ट्य भी आशिक रूप में योग देता है।

शैली का तीसरा स्रोत भाषा-वैशिष्ट्य है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने भाषा के दो रूप माने है—स्वभावोक्ति एवं अतिशयोक्ति। उनके विचार से साहित्य में अतिशयोक्ति या वक्रोक्ति का ही प्रयोग होता है। कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने भी साहित्य में सामान्य भाषा के स्थान पर विशिष्ट भाषा के प्रयोग का समर्थन किया है, यद्यपि इसका थोड़ा विरोध भी हुआ है। अतिशयोक्ति एवं विशिष्ट भाषा सम्बन्धी परम्परागत धारणाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि इसके अनुसार साहित्य की भाषा लोक-भाषा (या लोक व्यवहार की भाषा) से भिन्न या विशिष्ट होती है, किन्तु हम इस मत को स्वीकार नही कर सकते। साहित्य की भाषा में जो वैशिष्ट्य मिलता है, वह लोक व्यवहार की भाषा में भी प्राप्य है। 'हाय ! मर गया।' 'तुम्हारी चमड़ी उधेड़ दूँगा,' 'तुम तो ईद के चाँद हो गये हो !'—जैसे भावात्मक प्रयोगो मे लाक्षणिकता, अलंकृति, बिम्ब-विधान आदि की वे सब विशेषताएँ मिलती है जो साहित्यिक भाषा के वैशिष्टय की द्योतक हैं। वस्तुत: साहित्य का भाषा-वैशिष्ट्य लोक-भाषा से पार्थक्य का नहीं, अपितु शास्त्र और विज्ञान की भाषा के पार्थक्य का सूचक है। विज्ञान में भाषा का सामान्य, अभिधात्मक, संतुलित एवं निश्चित रूप प्रयुक्त होता है जब कि साहित्य (तथा लोक-व्यवहार मे भी) मे उसका विशिष्ट, लाक्षणिक, व्यंग्यात्मक, असंतुलित एवं अनिश्चित रूप प्रयुक्त होता है—दोनो का यही अन्तर साहित्यिक शैली के वैशिष्टय का एक कारण है।

शैली का चौथा स्रोत पाठक का वैशिष्ट्य है। जिस प्रकार बातचीत मे हम श्रोता के अनुकूल शब्दावली का व्यवहार करते है वैसे ही लेखन में पाठक की रुचि एव उसके स्तर के अनुकूल शैली का प्रयोग करते हैं। यद्यपि लेखन-कार्य के सम्बन्ध मे

लेखक और पाठक के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता किन्तु पाठक के स्तर की धारणा अप्रत्यक्ष रूप से लेखक के मन में विद्यमान रहती है जो उसके लेखन को एक सीमा तक नियत्रित करती रहती है। विभिन्न वर्ग के पाठको में भी पस्पर रुचि-भेद मिलता है, जैसे किसी वर्ग के पाठक सरल एवं स्वाभाविक शैली को पसन्द करते हैं तो किसी वर्ग के पाठक चमत्कार को अधिक महत्त्व देते हैं। पाठकों की इस पसन्द का उनसे सम्बन्धित लेखकों की शैली पर भी थोड़ा-बहुत प्रभाव पड़ना आवश्यक है। अतः पाठक के वैशिष्ट्य को भी शैलीगत वैशिष्ट्य का एक कारण माना जा सकता है—इसमें कोई सदेह नहीं।

(१०) **शैली सम्बन्धी परंपरागत सिद्धान्त**—परम्परागत साहित्य-शास्त्र में में भी शैली के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित हैं, जिनमें प्रमुख ये हैं—(क) भारतीय काव्य-शास्त्र में—(१) अलंकार (२) रीति या गुण (३) ध्वनि (४) वक्रोक्ति। (ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में—(१) अलंकार (२) रीति या गुण (३) बिम्ब (४) प्रतीक। इनमें से प्रथम दो सिद्धान्त—अलंकार और रीति—दोनों क्षेत्रों में ही पाये जाते हैं, अतः इन्हें परस्पर समन्वित किया जा सकता है। ये सभी सिद्धान्त शैली के विभिन्न पक्षों एवं तत्त्वों की व्याख्या करते हैं किन्तु इनमें अनुचित क्षेत्र-विस्तार, पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एवं भेदोपभेदो की जटिलता आदि की दूषित प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं। पर यदि इन्हें संशोधित रूप में अपनाया जाय तो ये शैली के अध्ययन में पर्याप्त उपयोगी सिद्ध हो सकते है। अतः इन पर क्रमशः विचार किया जा सकता है।

(क) **अलंकार-सिद्धान्त**—अलंकार के स्वरूप का विवेचन करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य आचार्यों ने लगभग एक जैसे ही मत प्रस्तुत किये है। दोनों ही क्षेत्रों के आचार्यो ने अलंकार के तीन सामान्य लक्षण बताये है—(१) अलंकार वैचित्र्य-मूलक होते है। (२) ये शोभाकारक होते हैं। (३) ये अभिव्यंजना के विशिष्ट प्रकार है। इसी प्रकार अलंकारों के वर्गीकरण में भी दोनों क्षेत्रों के विद्वानों से गहरी समानता मिलती है—दोनों ही क्षेत्रो में अलंकारों के तीन प्रमुख वर्ग किये गये हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार एवं उभयालंकार। अर्थालंकारों के वर्गीकरण में भारतीय विद्वानों ने अधिक सूक्ष्मता एवं वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। उन्होने मुख्यतः छह प्रकार के अर्थालंकार माने हैं—(१) सादृश्य-मूलक (२) विरोध-मूलक (३) शृंखला-मूलक (४) तर्क-न्याय-मूलक (५) वाक्य न्याय-मूलक और (६) गूढार्थ प्रतीति-मूलक। इन वर्गों में आने वाले सभी भारतीय एवं पाश्चात्य अलंकारों का विवेचन करने से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न अलंकारों के मूल में विभिन्न तत्त्व विद्यमान हैं। इस दृष्टि से सभी अलंकारों का सार इन दस तत्त्वों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—(१) आवृत्ति (शब्दा-लंकारों में) (२) अर्थ-वैचित्र्य (शब्दालंकारों में) (३) व्याकरण-वैचित्र्य (शब्दालंकारों में)

(४) अप्रस्तुत-योग (सादृश्य-मूलक अलंकारों में) (५) वक्रता या वैचित्र्य (विरोध-मूलक अलंकारों में) (६) क्रम-वैशिष्ट्य (श्रृंखला-मूलक अलंकारों में) (७) औचित्य (तर्क-न्याय-मूलक अलंकारों में) (८) वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य (वाक्य-न्याय-मूलक अलंकारों में) (९) स्वाभाविकता (लोक न्याय मूलक अलंकारों में) (१०) व्यंग्यात्मकता (गूढार्थ प्रतीति-मूलक अलंकारों में)। इन तत्त्वों में से कितने अलंकार के मूल क्षेत्र से सम्बद्ध हैं और कितने पड़ोसी सिद्धान्तों से अपहृत हैं—इसका निर्णय आगे किया जायगा।

अलंकार-प्रयोग के लक्ष्य एवं औचित्य के सम्बन्ध में भी विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य मतों का अनुशीलन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकार-प्रयोग का लक्ष्य अंततः साहित्य की आकर्षण शक्ति को उद्दीप्त करना है तथा इस लक्ष्य की पूर्ति में वे जहाँ तक योग देते हैं, वहाँ तक उनका औचित्य स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा अपने-आप में अलंकारों का कोई महत्त्व नहीं है।

(ख) **गुण (रीति) सिद्धान्त**—गुणो की चर्चा भारतीय एवं पाश्चात्य—दोनों क्षेत्रों में हुई है। गुण की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि वे काव्य के ऐसे उत्कर्ष-साधक तत्त्व हैं जो मुख्य रूप से रस के एवं गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य-धर्म हैं। गुणों के स्वरूप, क्षेत्र एवं लक्ष्य का विशेष अध्ययन करने पर हमें ये निष्कर्ष उपलब्ध होते हैं—(१) ये भाषा-शैली के सामान्य तत्त्व है जिनकी अपेक्षा न केवल साहित्यिक रचनाओं में अपितु वैज्ञानिक रचनाओं में भी होती है; जैसे, शुद्धता, स्पष्टता, संक्षिप्तता आदि गुणों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। (२) गुण रचना के किसी एक अवयव में या एक अंग में विद्यमान नहीं होते अपितु रचना-विशेष या लेखक-विशेष की सभी रचनाओं में सामान्य रूप से व्याप्त होते हैं। (३) भाषा के माध्यम से रची जाने वाली प्रायः सभी रचनाओं में गुणों की अपेक्षा होती है—इसीलिए इन्हें नित्य या स्थायी गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। (४) गुणों का लक्ष्य साहित्य को निर्दोष बना कर उसके मूल सौन्दर्य की रक्षा करना है, वे सौन्दर्य के उत्पादक या जनक नहीं माने जा सकते।

इस प्रकार हमारे विश्लेषण के अनुसार गुणों को भाषा के सामान्य तत्त्वों के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, साहित्यिक तत्त्वों के रूप मे नहीं। आचार्य वामन ने इन्हें आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। गुणों की सख्या में भी अनावश्यक रूप में अभिवृद्धि की गई है। विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य धारणाओं के विश्लेषण के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गुणों की श्रेणी में केवल तीन ही तत्त्व आते हैं—शुद्धता, स्पष्टता और संक्षिप्तता। ओज, माधुर्य आदि तत्त्वों को भी गुण रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु उनका भाषा एवं साहित्य से तथाकथित नित्य सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त वे साहित्य की अपेक्षा संगीत से अधिक सम्बन्धित है। अतः अनेक कारणों से इन्हें गुणों के रूप में मान्यता नहीं दी जा

सकती । इसी प्रकार गुणों के वैपरीत्य को दोष कहा गया है; अतः गुणों के अनुसार उनका भी समन्वय एवं संशोधन करते हुये केवल तीन ही दोषों—अशुद्धता, अस्पष्टता एवं शिथिलता—को स्वीकार किया जा सकता है ।

अस्तु, गुण-सिद्धान्त के अनेक स्वतोव्याघात दोषों एवं पारस्परिक असंगतियों का निराकरण करते हुए हमने उसे भाषा-शैली के एक ऐसे सामान्य—एवं प्रारभिक—सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है जिसका सम्बन्ध भाषा के माध्यम से रची जाने वाली प्रत्येक रचना से है—चाहे वह साहित्य की हो या विज्ञान की । गुणों की यह विशिष्टता जहाँ उन्हें नित्यता एवं स्थायित्व प्रदान करती है वहाँ यह उनके विशुद्ध साहित्यिक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित होने में बाधा भी उपस्थित करती है ।

(ग) **शब्द-शक्तियाँ और ध्वनि**—ध्वनि सिद्धान्त शब्द-शक्तियों पर आधारित है, अतः इसे समझने के लिए पहले शब्द-शक्तियों का अनुशीलन कर लेना आवश्यक है । शब्द अपनी जिस शक्ति से अर्थ सूचित करने का कार्य संपादित करते है, उसे ही शब्द-शक्ति कहते हैं । शब्द-शक्ति के मुख्यतः तीन प्रकार माने गये है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना । शब्द के सामन्य प्रचलित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को अभिधा शक्ति कहते है । अभिधा के विभिन्न तत्त्वो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि इसके द्वारा सूच्य अर्थ मुख्यतः परंपरा या रूढ़ि पर आधारित होता है । लक्षणा शक्ति की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि मुख्यार्थ की बाधा होने पर रूढ़ि या प्रयोजन के कारण जिस शक्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो वही लक्षणा है । इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर लक्षणा के तीन लक्षण स्पष्ट होते है—(१) वाच्यार्थ या मुख्यार्थ की बाधा । (२) लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से सम्बन्धित होना । (३) लक्षणा के पीछे किसी रूढ़ि या विशेष प्रयोजन की प्रेरणा का होना । इन लक्षणों का और अधिक विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि लक्षणा में कुछ शब्दों या वाक्यांशों की न्यूनता के कारण ही मुख्यार्थ मे बाधा उपस्थित होती है, यदि इन अंशो को जोड़ दें तो लक्षणा अभिधा में परिर्वातत हो सकती है। उदाहरण के लिए, 'पजाब वीर है' के स्थान पर 'पंजाब के लोग वीर है' कह दे तो पहला लाक्षणिक प्रयोग अभिधात्मक कथन में परिर्वातत हो जायगा । दूसरे, लक्षणा किसी सर्वथा नवीन अर्थ को जन्म नही देती, वह अभिधात्मक अर्थ में ही थोड़ा परिवर्तन प्रस्तुत करती है, इसीलिए लक्ष्यार्थ का वाच्यार्थ से न्यूनाधिक सम्बन्ध सदा बना रहता है—यदि यह सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो जाय तो उस स्थिति में वह लक्षणा न रहकर व्यंजना हो जायगी । लक्षणा का लक्ष्य सदा केवल अर्थ को सूचित करना ही नहीं अपितु उस पर विशेष बल देना होता है, इसी को प्राचीन आचार्यों ने 'विशेष प्रयोजन' कहा है । पर यह विचित्र बात है कि 'विशेष प्रयोजन' के साथ-साथ 'रूढ़ि' को भी लक्षणा का आधार स्वीकार कर लिया गया है जबकि हमारे विश्लेषण के अनुसार यह ठीक नहीं । रूढि पर आधारित प्रयोग अभिधा के क्षेत्र में आते हैं,

लक्षणा के क्षेत्र में नहीं, किन्तु लक्षणावादियों ने लक्षणा के क्षेत्र में अभिधा और व्यंजना को भी समाविष्ट करने के लिए लक्षणा के कुछ ऐसे भेदोपभेदों की कल्पना की है जो लक्षणा के मूल लक्षणों के प्रतिकूल पड़ते हैं। एक ओर रूढि लक्षणा ऐसा ही भेद है तो दूसरी ओर लक्षण-लक्षणा एवं सारोपा लक्षणा जैसे भेद हैं। रूढि लक्षणा में रूढि के कारण लाक्षणिकता का अभाव रहता है तो लक्षण-लक्षणा में लक्ष्यार्थ को वाच्यार्थ से सर्वथा असम्बद्ध माना गया है जबकि लक्षणा की परिभाषा के अनुसार दोनों का संबद्ध होना आवश्यक है। इसी प्रकार सारोपा लक्षणा में भी उपमेय और उपमान—दोनों की उपस्थिति के कारण मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित नही होती जब कि लक्षणा के लिए यह एक आवश्यक शर्त्त है। वस्तुतः लक्षणावादी लक्षणा के भेदोपभेदों का विस्तार करते समय लक्षणा के मूल लक्षणों को ही भुला बैठे। अस्तु, हमने इस प्रकार के असगत भेदोपभेदों का बहिष्कार करते हुए केवल चार भेदों को ही सशोधित रूप मे स्वीकार किया है—(१) गौणी लक्षणा (२) शुद्ध लक्षणा (३) उपादान लक्षणा (४) लक्षण-लक्षणा। ये चारों भेद वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के पारस्परिक सम्बन्धों के विभिन्न प्रकारों को सूचित करते हैं। गौणी दोनों के सादृश्य सम्बन्ध को, शुद्धा दोनों के सामीप्य, आधाराधेय एवं तात्कर्म्य सम्बन्ध को, उपादान दोनों के सम्बन्ध की घनिष्ठता को और लक्षण-लक्षणा दोनों के सम्बन्ध की दूरी को सूचित करती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्ववर्ती आचार्यो ने वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ की असम्बद्धता को तथा दोनों की सम्बद्धता को क्रमश· लक्षण-लक्षणा एवं उपादान लक्षणा की आधारभूत विशेषताओ के रूप मे स्वीकार किया है, किन्तु जैसा कि हम ऊपर निवेदन कर चुके हैं, यह स्वीकृति लक्षण-लक्षणा को लक्षणा के क्षेत्र से वहिष्कृत कर देती है, अतः हमने दोनो के लक्षणो मे सशोधन करते हुए उपादान लक्षणा मे वाक्यार्थ और लक्ष्यार्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध एवं लक्षण लक्षणा मे दूर का सम्बन्ध (सम्बन्ध का सर्वथा अभाव नही) माना है। अस्तु, लक्षणा के ये स्वीकृत भेद वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के ही पारस्परिक सम्बन्धो के विभिन्न स्तरों एव रूपों के अनुमापक है अन्यथा इनकी कोई उपयोगिता नही है।

तीसरी प्रमुख शब्द-शक्ति व्यंजना है। पूर्ववर्ती आचार्यो ने व्यजना की परिभाषा बड़े अस्पष्ट रूप मे की है। विभिन्न आचार्यों ने इसकी अभाव वादी (Negative) परिभाषा करते हुए प्रायः यही कहा है कि जो अर्थ अभिधा एवं लक्षणा से व्यक्त नही होता, उस अर्थ को (या वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ को) व्यक्त करने वाली शक्ति व्यंजना है। इससे यह तो ज्ञात होता है कि जो अभिधा और लक्षणा नहीं है, वह व्यंजना है, पर स्वयं व्यंजना क्या है—उसकी स्वतंत्र विशेषताएँ क्या हैं ?—इसका स्पष्टीकरण उपलब्ध परिभाषाओं से नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि हम व्यंजना की भाववादी (Positivc) परिभाषा प्रस्तुत करें। व्यंजना का तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषण करने पर उसकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(१) अभिधा में जहाँ एक साथ एक अर्थ विद्यमान रहता है तथा लक्षणा में एक अर्थ अन्य अर्थ में परिवर्तित हो जाता है, वहाँ व्यंजना में एक साथ दो या दो से अधिक अर्थ विद्यमान रहते हैं। (२) लक्षणा में लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से ही सम्बन्धित या उसी का परिवर्तित रूप होता है जबकि व्यंजना में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बन्धित या परिवर्तित न होकर स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहता है। (३) जहाँ अभिधा अलग-अलग शब्दों में सक्रिय रहती है, लक्षणा वाक्यों में सक्रिय हो पाती है वहाँ व्यंजना प्रसंग (या वाक्य-समूहो) में ही सक्रिय होती है ; अतः वह प्रसंग पर आश्रित होती है। इन तीनों विशेषताओं का समन्वय करते हुए कहा जा सकता है कि व्यंजना भाषा की वह शक्ति है जिसके कारण किसी प्रकरण या प्रसंग-विशेष में एक साथ अनेक स्वतन्त्र अर्थों की सत्ता विद्यमान रहती है।

व्यंजना के भेदोपभेदों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि व्यंजना-वादियों ने भी इस क्षेत्र में लक्षणावादियों का अनुकरण करते हुए ऐसे भेदों की कल्पना की है जो व्यंजना के मूल स्वरूप के प्रतिकूल पड़ते है। जिस प्रकार लक्षणावादियों ने अभिधा और व्यंजना को लक्षणा से पृथक स्थान देना उचित नही समझा उसी प्रकार व्यंजनावादियों ने भी अन्य शक्तियों का समाहार अपने ही क्षेत्र में कर लेने का प्रयास किया है। ऐसा करते समय वे व्यंजना की मूल परिभाषा एवं अपने अधिकार क्षेत्र को भी भूल गये। उदाहरण के लिए व्यंजना के दो भेदों—शाब्दी व्यंजना एवं आर्थी व्यंजना तथा शाब्दी व्यंजना के दो भेदों—अभिधामूला एवं लक्षणामूला—पर दृष्टिपात करें। इन भेदों के लक्षणों एवं उदाहरणों का विश्लेषण करने पर यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि इन भेदोपभेदों में आर्थी व्यंजना को छोड़कर शेष सभी या तो अभि-धात्मक प्रयोग आते है या लाक्षणिक; व्यजना का सम्बन्ध उनसे नही है। यदि इन भेदों को स्वीकार कर लिया जाय तो व्यंजना का क्षेत्र इतना व्यापक हो जायगा कि सभी अनेकार्थक शब्द, श्लिष्ट पद, व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ, लाक्षणिक प्रयोग उसमें समाविष्ट हो जायेगे। वस्तुतः व्यंजना के ये भेदोपभेद अनावश्यक एवं असंगत है।

उपर्युक्त शब्द-शक्तियों के पारस्परिक अन्तर को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम उनके अर्थ के स्रोत, अर्थ की प्रकृति, अर्थ की संख्या, कार्य-क्षेत्र, आकर्षण-भेद, एवं प्रभाव की गंभीरता की दृष्टि से उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकते हैं। इससे अनेक विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। अर्थ के स्रोत की दृष्टि से अभिधा का सम्बन्ध परंपरा, से, लक्षणा का भावातिरेक जन्य प्रयोग से और व्यंजना का बुद्धि-नियं-त्रित भावात्मक प्रयोग से है। अर्थ की प्रकृति की दृष्टि से अभिधा को सामान्य, स्थिर एवं निश्चित कहा जा सकता है जबकि लक्षणा और व्यंजना विशिष्टि, अस्थिर एवं अनिश्चित अर्थ को सूचित करती हैं। सूच्य अर्थों की सख्या की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का अनुपात क्रमशः एक, डेढ़ एवं दो माना जा सकता है। कार्य-क्षेत्र की दृष्टि से अभिधा का क्षेत्र शब्द है, लक्षणा का वाक्य एवं व्यंजना का प्रसंग है। अभिधा

में द्रव्यगत (ऐन्द्रिक) आकर्षण रहता है जबकि लक्षण और व्यंजना में शैलीजन्य भावात्मक एवं बौद्धिक आकर्षण की सत्ता रहती है। प्रभाव की दृष्टि से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का महत्त्व उत्तरोत्तर अधिक है। अस्तु, संक्षेप में इन्हीं आधारों पर शब्द-शक्तियों के अन्तर को हृदयंगम किया जा सकता है।

(घ) **ध्वनि-सिद्धान्त**—ध्वनि की परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि उसका सम्बन्ध 'प्रतीयमान' अर्थ से है। 'प्रतीयमान अर्थ, वस्तुतः 'व्यंग्यार्थ' का पर्यायवाची है। अस्तु, व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य ही ध्वनि है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या ध्वनि-काव्य में वाच्यार्थ का कोई महत्त्व नही ? क्या ध्वनि के सौन्दर्य में वाच्यार्थ का कोई योग-दान नही रहता ? इस सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी मत मिलते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वाच्यार्थ में ही सौन्दर्य का निवास माना है जबकि डा० नगेन्द्र ने इस मत का खंडन करते हुए व्यंग्यार्थ में सौन्दर्य की सत्ता सिद्ध की है। हमारे विश्लेषण के अनुसार ये दोनों ही मत अतिवादिता पर आश्रित हैं। सौन्दर्य का निवास न तो वाच्यार्थहीन व्यंगार्थ में होता है और न ही व्यंग्यार्थशून्य वाच्यार्थ में—वस्तुतः दोनों की सह-स्थिति से ही सौन्दर्य का आविर्भाव होता है। ऐसी स्थिति में किसी भी एक को इसका श्रेय नहीं दिया जा सकता। आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार एक ही स्तर के दो विरोधी तत्त्वों का संपर्क या संयोजन ही आकर्षण शक्ति का उद्दीपक होता है, यही नियम यहाँ लागू होता है। अतः ध्वनि के सौन्दर्य का श्रेय भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के सम्पर्क या साहचर्य को ही दिया जा सकता है—किसी एक को नही।

ध्वनि के भेदोपभेदो में वे सारी असगतियाँ विद्यमान है जो व्यंजना के भेदों में मिलती है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ अधिक विस्तार में न पड़कर केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझेगे कि ध्वनि के प्रायः सभी भेद—अभिधामूला, लक्षणामूला, असंलक्ष्य-क्रम, संलक्ष्य-क्रम, रसध्वनि, अलंकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि आदि—अनावश्यक, असंगत एवं भ्रामक हैं। ध्वनिवादियों ने ऐसे-ऐसे भेदों की कल्पना की है जिनसे काव्य की प्रत्येक उक्ति पर ध्वनि का लेबिल लगाया जा सके। अवश्य ही वे ऐसा करने में सफल हो गये है, पर साथ ही ध्वनि का रूप विकृत एवं आकर्षणहीन भी हो गया है। ध्वनि के परंपरागत भेदों को स्वीकार किया जाय तो न केवल साहित्य अपितु इतिहास, दर्शन, विज्ञान और लोक-व्यवहार की प्रत्येक उक्ति को ध्वनि के किसी न किसी भेद में स्थान दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए—"भारत में चालीस करोड लोग रहते हैं।" "आज रविवार है।" "कल गेहूँ बीस रुपये मन था, आज बाईस रुपये मन" आदि वाक्य भी वस्तु-ध्वनि के अन्तर्गत लिये जा सकते हैं क्योंकि इनमे क्रमशः भारत की महानता, आज छुट्टी है, महँगाई बढ़ रही है आदि तथ्यों की व्यंजना मानी जा सकती है। वस्तुतः ध्वनि के इन भेदों को स्वीकार कर लेने पर सब कुछ ध्वनि में आ जाता है जो ठीक नही।

(ङ) वक्रोक्ति सिद्धान्त—वक्रोक्ति का शाब्दिक अर्थ है—वह उक्ति जिसमें

वक्रता हो । वक्रोक्ति का मूल सौन्दर्य वक्रता या वैचित्र्य में ही मानते हुए इसे स्वभावोक्ति के विपरीत माना गया है । आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के भेदोपभेद करते हुए उसे एक ऐसा व्यापक रूप प्रदान किया है जिससे वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबन्ध-कौशल तक सभी प्रकार का काव्य-वैशिष्टय इसमें समाविष्ट हो जाता है । जिन्हें अलंकार वादी अनुप्रास, यमक आदि की संज्ञा देते है वे कुन्तक के यहाँ 'वर्ण-वक्रता' के नाम से पुकारे जाते हैं । इसी प्रकार अर्थालकार वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत आ जाते है । ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान काव्य को वक्रोक्तिवादी प्रकरण-वक्रता का नाम दे देते है । कथावस्तु, भावाभि-व्यक्ति एव रस-योजना से सम्बन्धित विभिन्न विशेषताएँ प्रबन्ध-वक्रता में आ जाती हैं । अस्तु, वक्रोक्तिवाद में 'वक्रता' के अन्तर्गत सभी प्रकार की काव्य-विशेषताओं का समाहार कर लिया गया है । वक्रोक्ति के इस व्यापक रूप को स्वीकार करने का अर्थ है अन्य सभी सिद्धान्तों के अस्तित्व को अस्वीकार करना । साथ ही इससे वक्रोक्ति का रूप इतना अमर्यादित एवं अनिश्चित हो जाता है कि उसका स्वभावोक्ति से भी पार्थक्य स्पष्ट करना कठिन हो जाता है, अतः इसे हम स्वीकार नही कर सकते । हाँ, इसे मर्यादित रूप में अवश्य स्वीकार किया जा सकता है—इस सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा ।

(च) **बिम्ब-सिद्धान्त**—बिम्ब या इमेज (Image) की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि शब्दों के माध्यम से निर्मित चित्र ही बिम्ब हैं । इस परिभाषा को तथ्य रूप में स्वीकार करना कठिन है क्योकि चित्र सदा रेखाओं के—शब्दो के नहीं—माध्यम से ही निर्मित होते है । वस्तुतः यहाँ 'चित्र' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक रूप में किया गया है जिसका वास्तविक अर्थ है वस्तुओं के रूप-रंगादि का ऐसा विवरण जिसके पढने या सुनने से (चित्र की भाँति देखने से नहीं) हमारे मानसिक बिम्ब उदित या तरंगित हो सके । साहित्यिक विम्ब की सामान्यतः पाँच विशेषताएँ मानी जाती है—(१) चित्रात्मकता—इसका आख्यान ऊपर हो चुका है । (२) शब्द-रूपात्मकता (३) ऐन्द्रिकता—इन्द्रियों को प्रभावित करने की क्षमता (४) भावोत्पादकता (५) अप्रस्तुत के सन्निवेश या आरोपण का अभाव । इस प्रकार बिम्ब प्रस्तुत विषय के ऐसे ऐन्द्रिक गुणों पर बल देता है जिनकी चर्चा से पाठक के भावों का उद्वेलन हो ।

बिम्बों के वर्गीकरण के भी अनेक प्रयास किये गये है ; किन्तु इन्हें हम सफल नहीं मान सकते । बिम्बो के ऐसे भेदो की भी चर्चा की गई है जो बिम्बात्मकता के प्रतिकूल पड़ते है ; उदाहरण के लिए 'Abstract Image को लीजिए । बिम्ब का लक्ष्य ही सूक्ष्म तथ्यों को मूर्त्त रूप में प्रस्तुत करना है, ऐसी स्थिति में बिम्बात्मकता शून्य बिम्बों की कल्पना ही अपने-आपमें हास्यास्पद है । बिम्ब के कुछ भेदों में उपमा रूपक एवं प्रतीक को भी घुला-मिला दिया है, जो ठीक नहीं । वस्तुतः बिम्ब और

अलंकार में परस्पर गहरा अन्तर है। बिम्ब-विधान का क्षेत्र प्रस्तुत विषय या उपमेय तक ही सीमित रहता है जबकि अलंकारों में अप्रस्तुत विषय या उपमानों का भी समावेश किया जाता है। बिम्ब सदा ऐन्द्रिक प्रभाव को ही आकर्षण का साधन बनाता है जबकि अलंकार में बौद्धिक चमत्कार का भी आश्रय लिया जा सकता है। बिम्बों का सम्बन्ध सामान्यत: रूप की अनुभूति से होता है जबकि अलंकार सूक्ष्म भावों और विचारों को भी प्रेषित कर सकते हैं। बिम्ब स्वभावोक्ति का मार्ग अपनाता है जबकि अलंकार अतिशयोक्ति पर आधारित होते हैं। अत: बिम्ब और अलंकार को एक ही मान लेना भ्रान्तिपूर्ण है। इसी प्रकार बिम्ब और प्रतीक में भी गहरा अन्तर है ; बिम्ब प्रस्तुत से सम्बद्ध, एकार्थक, चित्रात्मक एवं स्वाभाविकता युक्त होते है जबकि प्रतीक में अप्रस्तुत का आरोपण, अनेकार्थकता, बौद्धिकता एवं चमत्कारिता होती है। वस्तुत: अन्य सिद्धान्तों के अनुयायियों की भाँति बिम्बवादियों ने भी अपने भेदोपभेदों के बहाने क्षेत्र-विस्तार की प्रवृत्ति में पड़कर ऐसे तत्त्वों पर अधिकार करने का प्रयास किया है जो मूलत: बिम्ब के मूल क्षेत्र से बहुत दूर पड़ते हैं। हम इस प्रयास को मान्यता नही दे सकते।

(छ) **प्रतीक सिद्धान्त**—'प्रतीक' का सामान्य अर्थ होता है—वह संकेत-चिह्न जिसका प्रयोग किसी अन्य संकेत-चिह्न या अर्थ के स्थान पर (उसके प्रतिनिधि के रूप में) होना है। साहित्यिक प्रतीक के भी सामान्यत: ये तीन लक्षण स्वीकार किये जा सकते हैं—(१) शब्द (संकेत-चिन्ह) का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग (२) अनेकार्थकता (३) अप्रत्यक्ष या विशिष्ट अर्थ की प्रत्यक्ष एवं सामान्य अर्थ से अधिक महत्ता। इस दृष्टि से शब्दो के सामान्य प्रयोग एवं प्रतीकात्मक प्रयोग में गहरा अन्तर है किन्तु कुछ प्रतीकवादियों ने प्रत्येक शब्द को प्रतीक घोषित किया है। किन्तु यदि दोनो की तुलना की जाय तो उनमें कई प्रकार का अन्तर स्पष्ट रूप में परिलक्षित होगा। एक तो सामान्य शब्द का अर्थ (श्लिष्ट पदों को छोड़कर) सामान्यत: एक ही होता है जबकि प्रतीक में अनेकार्थकता होती है। दूसरे, सामान्य शब्द का अर्थ प्रसंग पर आधारित नहीं रहता जबकि प्रतीक में ऐसा होता है। तीसरे, सामान्य शब्द का अर्थ परम्परा से विकसित होता है जबकि प्रतीक मे अर्थ का आरोपण होता है। अस्तु, प्रत्येक शब्द को प्रतीक मानना किसी भी दृष्टि से ठीक नही कहा जा सकता। यह दूसरी बात है कि प्रतीक भी रूढ होजाने पर प्रतीकात्मकता से शून्य होकर सामान्य शब्दों की भाँति सकेत-चिन्हों में परिणत हो जाते हैं।

प्रतीकों के वर्गीकरण के भी कई प्रयास किये गये है, जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास श्री अरबन महोदय का है। उन्होने प्रतीकों के तीन वर्ग निर्धारित किये हैं—(१) संकेतात्मक (२) अभिव्यंजनात्मक और (३) आरोपमूलक। इन वर्गों को भारतीय शब्द-शक्तियों की दृष्टि से क्रमश: अभिधात्माकता, लाक्षणिकता एवं

व्यंग्यात्मकता से युक्त माना जा सकता है। हमारे विचार से इनमें तीसरा वर्ग ही प्रतीकों के वास्तविक रूप का प्रतिनिधित्व करता है।

कुछ विद्वानों ने प्रतीक और रूपक को भी एक माना है, किन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर है। प्रतीकों में जहाँ अप्रस्तुत का ही उल्लेख रहता है वहाँ रूपक में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का कथन होता है—अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता। हाँ, भारतीय अलंकारों में से रूपकातिशयोक्ति को अवश्य प्रतीक के अनुरूप कहा जा सकता है।

प्रतीक-योजना का लक्ष्य साहित्य में मूलतः कथ्य को आकर्षक रूप प्रदान करना होता है जबकि विज्ञान में केवल कथ्य को स्पष्ट करना ही होता है। साहित्यिक प्रतीकों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में से एक पक्ष का सम्बन्ध तथ्य या विचार से तथा दूसरे का भाव एवं अनुभूति से रहता है जबकि वैज्ञानिक विषयों में प्रयुक्त प्रतीकों में ऐसा नही होता—उनमें दोनों पक्ष ही प्रायः विचारात्मक होते है। इसी से इनके प्रभाव में अन्तर आ जाता है।

परंपरागत तत्त्वों का विश्लेषण—इस प्रकार शैली सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों के विश्लेषण से इन तत्त्वों की उपलब्धि होती है—

(क) अलंकार-सिद्धान्त से—(१) आवृत्ति (२) श्लेष (३) व्याकरण-वैचित्र्य (४) अप्रस्तुत-योग (५) वक्रता या वैचित्र्य (६) क्रम-वैशिष्ट्य (७) औचित्य (८) वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य (९) स्वाभाविकता (१०) व्यंग्यात्मकता।

(ख) गुण-सिद्धान्त से—(१) शुद्धता (२) स्पष्टता (३) संक्षिप्तता।

(ग) शब्द-शक्ति एवं ध्वनि सिद्धान्त से—(१) लाक्षणिकता (२) व्यंग्यात्मकता।

(घ) वक्रोक्ति सिद्धान्त से—वक्रता या उक्ति-वैचित्र्य।

(ङ) बिम्ब-सिद्धान्त से—बिम्बात्मकता।

(च) प्रतीक सिद्धान्त से—प्रतीकात्मकता।

इन सभी तत्त्वों को भाषा के विभिन्न पक्षों के आधार पर इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है—

(क) भाषा के नाद-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—आवृत्ति।

(ख) भाषा के रूप-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—शुद्धता, संक्षिप्तता, क्रम-बद्धता, व्याकरण-वैचित्र्य, वाक्य-रचना-वैशिष्ट्य।

(ग) भाषा के अर्थ-पक्ष से सम्बन्धित तत्त्व—(अ) अभिधा से सम्बन्धित—स्पष्टता, स्वाभाविकता, औचित्य, बिम्बात्मकता, अप्रस्तुत-योग। (अ) लक्षणा-शक्ति से सम्बन्धित—वक्रता, लाक्षणिकता, उक्ति-वैचित्र्य। (इ) व्यंजना-शक्ति से सम्बन्धित—श्लेष, प्रतीक, ध्वनि।

उपर्युक्त तत्त्वों का साहित्यिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष

पर पहुँचते हैं कि इनमें से विशुद्ध साहित्यिक तत्त्व ये आठ ही हैं—(१) आवृत्ति (२) वैचित्र्य (३) बिम्बात्मकता (४) अप्रस्तुत-योग (५) वक्रता (६) श्लेष (७) प्रतीक (८) व्यंग्यात्मकता या ध्वनि। शेष तत्त्व या तो विजातीय होने के कारण त्याज्य है या उनका समन्वय इन्हीं तत्त्वों में हो जाता है।

(११) **परंपरागत सिद्धान्तों का संशोधन**—परंपरागत सिद्धान्तों के अध्ययन एवं उनसे उपलब्ध तत्त्वों के विश्लेषण से उनकी तीन दूषित प्रवृत्तियों पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पड़ता है—(१) प्रत्येक सिद्धान्त मूलतः किसी एक तत्त्व को लेकर चलता है किन्तु आगे चलकर वह ऐसे तत्त्वों पर भी अधिकार कर लेता है जो किसी अन्य सिद्धान्त से सम्बद्ध है। (२) प्रत्येक सिद्धान्त में भेदोपभेदों की प्रवृत्ति अनावश्यक रूप में मिलती है। (३) एक सिद्धान्त दूसरे सिद्धान्त की उपलब्धियो को स्वीकार करता हुआ आगे नही बढ़ता, अपितु वह पूर्ववर्ती सिद्धान्तो का प्रतिद्वन्द्वी या स्थानापन्न होने का प्रयास करता है। इन प्रवृत्तियों के कारण एक ही तत्त्व पर अनेक सिद्धान्तों का अधिकार हो गया है जिससे सभी सिद्धान्त परस्पर घुल-मिलकर अस्पष्ट, अनिश्चित, एवं अप्रामाणिक हो गये हैं। उदाहरण के लिए बिहारी के 'नहि पराग नहि मधुर मधु ....' दोहे को लीजिए। इसमे अलंकारवादी अन्योक्ति अलंकार की सत्ता सिद्ध करेगा तो ध्वनिवादी इसे ध्वनि का उदाहरण सिद्ध करेगा तथा प्रतीकवादी, बिम्बवादी आदि भी इसे क्रमशः प्रतीकात्मकता एवं बिम्बात्मकता से युक्त मानेंगे। ऐसी स्थिति में हम किस सिद्धान्त की बात स्वीकार करे, यह समस्या है। एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों द्वारा विभिन्न संज्ञाएँ प्रदान कर देने के कारण परंपरागत साहित्य-शास्त्र मे इतनी अनिश्चितता एवं अव्यवस्था आगई है कि उसे व्यवहार में लाना कठिन हो गया है। ऐसी स्थिति मे हमें उसे संशोधित करते हुए एक ऐसा रूप देने का प्रयास करना चाहिए कि जिससे प्रत्येक सिद्धान्त का क्षेत्र मर्यादित, उसके तत्त्व निश्चित एवं उसके भेदोपभेद सीमित हो सके। इसी लक्ष्य को सामने रखकर विभिन्न सिद्धान्तों का पुनराख्यान करते हुए हमने उनके सम्बन्ध में अनेक संशोधन प्रस्तुत किये है, जो संक्षेप में ये है—

(१) **अलंकार-सिद्धान्त**—अलंकार-सिद्धान्त में इतने अधिक तत्त्वों को स्थान दिया गया है कि जिससे इसके क्षेत्र में वक्रोक्ति, प्रतीक, ध्वनि आदि प्रायः सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए विरोधमूलक अलंकारों में वक्रोक्ति का तथा गूढ़ार्थ-प्रतीतिमूलक अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जाता है, पर वस्तुतः अलंकार का सम्बन्ध केवल एक ही तत्त्व—अप्रस्तुत-योग—से है। जहाँ प्रस्तुत के अलंकरण के लिए अप्रस्तुत का योग होता है वही अलंकार की सत्ता मानी जा सकती है। इस दृष्टि से अलंकार का वक्रोक्ति, बिम्ब, प्रतीक, ध्वनि से गहरा अन्तर है। वक्रोक्ति और बिम्ब में तो अप्रस्तुत का समावेश ही नहीं होता तथा प्रतीक और ध्वनि में प्रस्तुत का समावेश या उल्लेख प्रत्यक्ष रूप में नहीं होता जबकि

अलंकार में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष रूप में रहती है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम अलंकार के उन सब भेदोपभेदों का वहिष्कार कर सकते हैं जिनमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों की सत्ता प्रत्यक्ष नहीं रहती। ऐसा करने पर केवल सादृश्यमूलक अलंकार ही विशुद्ध अलंकार सिद्ध होते हैं। शेष अलंकार आधारभूत तत्त्वों की दृष्टि से अलंकार की सीमा से बाहर पड़ते हैं, अत: वे त्याज्य हैं।

(२) **वक्रोक्ति**—वक्रोक्ति के स्वरूप का विश्लेषण करने पर उसकी तीन सीमाएँ स्पष्ट रूप में परिलक्षित होती है। एक तो वह द्रव्यगत वैशिष्ट्य पर आधारित न होकर रूपगत वैशिष्ट्य या परिवर्तन पर आधारित होती है; यह सीमा उसे अलंकार सिद्धान्त से पृथक करती है। दूसरे, वक्रोक्ति वैषम्यमूलक होती है; यह सीमा उसे स्वभावोक्ति और बिम्ब-विधान से पृथक करती है। तीसरे, वक्रोक्ति लक्षणामूलक होती है। यह सीमा उसे व्यंजनामूलक तत्त्वो—व्यंग्योक्ति, प्रतीक, ध्वनि आदि—से पृथक करती है। वक्रोक्ति के भेदोपभेदों में से भी अधिकांश वक्रोक्ति के मूल स्वरूप के प्रतिकूल एवं उसके क्षेत्र से असंबद्ध सिद्ध होते है, अत: वे त्याज्य है। उपर्युक्त सीमाओं की दृष्टि से वक्रोक्ति के वास्तविक क्षेत्र में केवल दो ही भेद—पद-वक्रता एव वाक्य-वक्रता आते है, शेष भेद अन्य सिद्धान्तो के क्षेत्र से सम्बद्ध हैं।

(३) **ध्वनि सिद्धान्त**—'ध्वनि' संज्ञा से यह भ्रम होता है कि इसका सम्बन्ध भाषा के नाद (Sound) पक्ष से होगा जबकि यह सिद्धान्त अर्थ-शक्तियों पर आधारित है। वस्तुत: व्यंग्यार्थ-प्रधान काव्य को ही ध्वनि कहते है, अत: इसका नामकरण 'व्यंग्य-प्रधान' भी किया जा सकता है। 'गुणीभूत व्यंग्य' की तुलना में भी यह नाम उपयुक्त है।

ध्वनि या व्यंग्य-प्रधान काव्य की सामान्यत: तीन सीमाएँ मानी जा सकती हैं—(क) ध्वनि का आधार कथ्य नही अपितु कथन-विधि है। (ख) ध्वनि का सम्बन्ध केवल व्यंजना से है, अभिधा और लक्षणा से नही। (ग) ध्वनि की व्याप्ति पूरे प्रसंग में रहती है। इन सीमाओ को ध्यान में रखते हुये ध्वनि के विभिन्न भेदों में से अधिकांश का वहिष्कार करना होगा। हमारे विश्लेषण के अनुसार ध्वनि के केवल दो ही रूप या भेद पर्याप्त हैं—(१) व्यंग्य-प्रधान और (२) गुणीभूत व्यंग्य।

(४) **बिम्ब-सिद्धान्त**—बिम्ब के विश्लेषण से उनकी तीन विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—पहली, बिम्ब एक ऐसा शाब्दिक विवरण है जो हमारे मानस-बिम्बों को उदित करता है। दूसरी, बिम्ब में ऐन्द्रिक गुणों का उल्लेख रहता है। तीसरी, बिम्ब में अभिधा-शक्ति ही सक्रिय रहती है। इस दृष्टि से बिम्ब के विभिन्न प्रचलित भेदोपभेद त्याज्य सिद्ध होते हैं।

(५) **प्रतीक सिद्धान्त**—प्रतीक में एक साथ दो अर्थ विद्यमान रहते हैं तथा दूसरा अर्थ आरोपित होता है। प्रतीकों के भी विभिन्न भेद बताये गये हैं जो अनावश्यक सिद्ध होते हैं।

उपर्युक्त संशोधनों के अनुसार परंपरागत सिद्धान्तों के क्षेत्र का निर्धारण एवं उनके आधारभूत तत्त्वों का निर्णय इस प्रकार होता है—

		क्षेत्र	तत्त्व
१.	अलंकार सिद्धान्त→	भाषा का अर्थ-पक्ष (केवल अभिधा शक्ति तक)	अप्रस्तुत-योग
२.	वक्रोक्ति सिद्धान्त→	भाषा की लक्षणा शक्ति	वक्रता
३.	ध्वनि सिद्धान्त →	भाषा की व्यंजना शक्ति	व्यंग्यात्मकता
४.	बिम्ब सिद्धान्त →	भाषा की अभिधा-शक्ति	स्वाभाविक ऐन्द्रिक गुण
५.	प्रतीक सिद्धान्त →	भाषा की व्यजना शक्ति	प्रतीकात्मकता

शेष सिद्धान्तों का सम्बन्ध साहित्य की अपेक्षा अन्य विषयों से अधिक होने के कारण उन्हें त्याग दिया गया है।

शैली और आकर्षण सिद्धान्त—आकर्षण-शक्ति सिद्धान्त की दृष्टि से शैली का लक्ष्य द्रव्य में निहित शक्ति को उद्दीप्त करना है। द्रव्य की शक्ति को उद्दीप्त करने के लिए उसे इस प्रकार रूपान्तरित किया जाता है जिससे कि उसके घटक तत्त्वों का संतुलन भंग हो जाय। द्रव्य के इसी रूपान्तरण को साहित्य में 'शैली' कहा जाता है। रसायन-शास्त्र के आधार पर इस रूपान्तरण के भी पाँच भेद किये जा सकते है—(१) संयोजनात्मक रूप-विधान (२) विश्लेषणात्मक रूप-विधान (३) विस्थापनात्मक रूप-विधान (४) विनिमयात्मक रूप-विधान (५) समावयात्मक रूप-विधान। परंपरागत सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित शैली सम्बन्धी प्रायः सभी तत्त्वों का समन्वय इन पाँच प्रकार के रूप-विधानों में हो जाता है ; देखिये—

१. संयोजनात्मक रूप-विधान=अलंकार (अप्रस्तुन का योग)
२. विश्लेषणात्मक रूप-विधान=बिम्ब-विधान
३. विस्थापनात्मक रूप-विधान=प्रतीक और ध्वनि
४. विनिमयात्मक रूप-विधान=लाक्षणिकता और वक्रोक्ति।
५. समावयात्मक रूप-विधान=आवृत्ति, अनुप्रास आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य वस्तुतः मानसिक द्रव्य का एक ऐसा रूपान्तरण मात्र है जिसकी शक्ति उद्दीप्त रूप में होती है। जिस प्रकार वैज्ञानिक भौतिक द्रव्य को रूपान्तरित करता हुआ उसकी अन्तर्निहित शक्ति को उद्दीप्त करके विभिन्न चामत्कारिक कार्य संपादित करता है, वैसे ही साहित्यकार अपने मानसिक द्रव्य को मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से उद्दीप्त एवं रूपान्तरित करता हुआ साहित्य का सर्जन करता है। किन्तु एक का द्रव्य स्थूल एवं बाह्य होता है जबकि दूसरे का सूक्ष्म एवं आन्तरिक ; इसी लिए वे दो भिन्न दिशाओं की ओर अभिमुख हो जाते हैं अन्यथा व्यापक दृष्टि से वे एक ही शक्ति के विभिन्न रूपों की जागृति एवं उद्दीप्ति में संलग्न प्रतीत होते हैं। संभवतः यही कारण है कि साहित्य और विज्ञान के अनेक नियमों में परस्पर गहरा सादृश्य परिलक्षित होता है।

परिशिष्ट ख—

साहित्य-विज्ञान : तालिका रूप में निष्कर्ष

साहित्य का पक्ष	तत्त्व	साहित्य-विज्ञान के अनुसार सम्बन्धित वर्ग	परंपरागत साहित्य-शास्त्र के अनुसार सम्बन्धित तत्त्व या सिद्धान्त। (संशोधित रूप में)
१. साहित्य की शक्ति या आत्मा (Energy)	आकर्षण शक्ति	१. भावात्मक आकर्षण	रसात्मकता, आनन्द,
		२. बौद्धिक आकर्षण	रमणीयता, चामत्कारिकता
		३. ऐन्द्रिक आकर्षण	सौन्दर्य, शोभा, चारुता,
२. साहित्य का द्रव्य (Matter)	१—भाव	भाव-प्रधान साहित्य	रस-सिद्धान्त (शान्त रस को छोड़कर)
	२—विचार	विचार-प्रधान साहित्य	उदात्त, औचित्य, शान्त रस
	३—कल्पना	कल्पना-प्रधान साहित्य	कल्पना-सिद्धान्त,
३. साहित्य का रूप पक्ष या शैली (Form)	१. अप्रस्तुत योग	संयोजनात्मक रूप-विधान	अलंकार
	२. बिम्बात्मकता (ऐन्द्रिक गुणों का विस्तार)	विश्लेषणात्मक रूप-विधान	बिम्ब-विधान
	३. व्यंग्यात्मकता	विस्थापनात्मक रूप-विधान	प्रतीक एवं ध्वनि
	४. लाक्षणिकता	विनिमयात्मक रूप-विधान	वक्रोक्ति
	५. क्रम बद्धता, आवृत्ति, लय आदि।	समावयात्मक रूप-विधान	अनुप्रास, छन्द, तुक आदि

परिशिष्ट ग—

आधारभूत विषयों की संक्षिप्त रूप-रेखा

१—भारतीय साहित्य-शास्त्र

●

प्रस्तुत प्रबन्ध में वैसे तो प्रसंगानुसार अनेक विषयों—व्याकरण, भाषा-विज्ञान साहित्य-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र, जीव-विज्ञान, भ्रूण-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र आदि—की सामग्री का उपयोग किया गया है किन्तु तीन विषयों—भारतीय साहित्य-शास्त्र, पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र—का उपयोग इसमें विशेष रूप से हुआ है। इस दृष्टि से हम इन्हें आधारभूत विषयों के रूप में स्वीकार करते हुए, इनका संक्षिप्त परिचय क्रमशः प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय साहित्य-शास्त्र का आरंभ सामान्यतः भरतमुनि के 'नाट्य-शास्त्र' (लगभग प्रथम शती ईस्वी) से माना जाता है। आचार्य भरत से लेकर अब तक के साहित्य-शास्त्र के इतिहास को हम सामान्यतः पाँच कालों में विभक्त कर सकते है—(१) स्थापना काल—पाँचवी शती के अन्त तक। (२) नव अन्वेषण काल—छठी शती से ग्यारहवीं शती तक। (३) संशोधन काल—बारहवी शती से सत्रहवीं शती तक। (४) पद्यानुवाद काल—सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती के मध्य तक (५) नवोत्थान काल—उन्नीसवीं शती के अंतिम चरण से अब तक। इन पाँचों कालों की उपलब्धियों पर यहाँ क्रमशः विचार किया जाता है।

१. **स्थापना काल**—यद्यपि आचार्य भरत से भी पूर्व अनेक आचार्य हो गये होंगे, किन्तु इस काल के उपलब्ध ग्रन्थों में केवल भरतमुनि के ही 'नाट्य-शास्त्र' का नाम आता है, अतः आचार्य भरत को ही भारतीय साहित्य-शास्त्र की स्थापना का श्रेय दिया जा सकता है। उन्होंने नाट्य-कला का सर्वांगीण विवेचन करने के साथ-साथ नाटक से सम्बन्धित अन्य कलाओं तथा साहित्य (काव्य) के भी विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। साहित्य-शास्त्र में उनकी सबसे बड़ी देन रस-सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य का लक्ष्य पाठक या श्रोता की भावनाओं को उद्वेलित करके उसे आनन्द प्रदान करना है—इसी आनन्द को साहित्य-शास्त्रीय

शब्दावली में 'रस' कहते है। इस लक्ष्य की पूर्ति उसी स्थिति में संभव है जबकि साहित्य की सामग्री को किसी एक मूल भावना (या स्थायी भाव) से संबद्ध करके प्रस्तुत किया जाय। या दूसरे शब्दों में, सारी रचना के केन्द्र मे कोई एक स्थायीभाव स्थित रहे तथा उसके विभिन्न अंश उसी स्थायीभाव के विभिन्न अवयवों के रूप में स्थित रहें। वे अवयव भी तीन प्रकार के माने गये है—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। वस्तुतः ये तीनों अवयव स्थायी भाव के ही घटक तत्त्व है तथा इन्ही के माध्यम से स्थायीभाव प्रस्तुत होता है। इसी तथ्य को सूत्र रूप में प्रस्तुत करते हुए आचार्य भरत ने कहा था—'विभावानुभाव व्यभिचारी संयोगाद् रस-निष्पत्ति :' अर्थात् विभाव अनुभाव एवं व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। परवर्ती व्याख्याताओं—ने इस सूत्र की अपने-अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए रस-सिद्धान्त का विकास कई रूपों में किया है, जिस पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आचार्य भरत ने रस-सिद्धान्त के रूप में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त को प्रस्तुत किया जो आज भी प्रचलित एवं मान्य है।

(२) **नव अन्वेषणकाल**—भारतीय साहित्य-शास्त्र का सर्वतोमुखी विकास इस काल (छठी शती से ग्यारहवी शती तक) में हुआ। इसी काल में एक ओर भामह (छठी शती), दंडी (सातवी शती), वामन (आठवीं शती), आनन्दवर्द्धनाचार्य (दसवीं शती), एवं क्षेमेन्द्र (ग्यारहवी शती) जैसे मौलिक चिन्तक उत्पन्न हुए, जिन्होने साहित्य के नये-नये तत्त्वों का अन्वेपण करते हुए अनेक नवीन सिद्धान्तों की स्थापना की तो दूसरी ओर भट्टलोलट (८-९-वी शती), शकुक, (नवी शती), भट्टनायक (नवीं-दसवीं शती), अभिनवगुप्त (दसवी-ग्यारहवी शती), राजशेखर (१०वी शती), धनंजय (१०वीं शती), महिम भट्ट (१०-११वी शती) और भोजराज (११वी शती) जैसे प्रतिभाशाली व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ, जिन्होने पूर्ववर्ती आचार्यों की स्थापनाओं का सूक्ष्म विश्लेषण एवं तीक्ष्ण खडन-मडन करते हुए भारतीय साहित्य-शास्त्र को व्यापक एवं गंभीर रूप प्रदान किया।[1] इस युग की देन को हम यहाँ मुख्यतः दो वर्गों में विभक्त कर सकते है—(क) नवीन सिद्धान्तों की स्थापना और (ख) नवीन व्याख्याएँ। यहाँ दोनों पर क्रमशः विचार किया जाता है।

(क) नवीन सिद्धान्तों की स्थापना—इस युग मे साहित्य सम्बन्धी पाँच नये महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की स्थापना हुई—(१) अलंकार सिद्धान्त (२) रीति सिद्धान्त (३) ध्वनि सिद्धान्त (४) वक्रोक्ति सिद्धान्त और (५) औचित्य सिद्धान्त। यद्यपि ये सिद्धान्त पर्याप्त मौलिक हैं किन्तु हमे यहाँ इस तथ्य को न भूल जाना चाहिए कि इनमें से अधिकांश का प्रेरणा-स्रोत भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र ही है। आचार्य भरत

---

१. आचार्यों का जीवन-काल श्री बलदेव उपाध्याय के 'भारतीय साहित्य-शास्त्र' के आधार पर दिया गया है।

ने विभिन्न प्रसंगों में अलंकार, गुण-दोष, औचित्य आदि तत्त्वों की चर्चा गौण रूप से की थी ; परवर्ती अलकार, रीति एवं औचित्य संप्रदाय के प्रवर्तकों ने इसी चर्चा से संकेत पाकर स्वतंत्र एवं व्यापक सिद्धान्तो की स्थापना की है। इसी प्रकार वक्रोक्ति की चर्चा भी वक्रोक्तिवाद के प्रवर्त्तन के बहुत पूर्व भामह एवं दंडी द्वारा हो चुकी थी तथा ध्वनि का आधार भी पूर्ववर्ती ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। पर इससे इनका महत्त्व कम नही होता।

उपर्युक्त पाँचो सिद्धान्तों में क्रमशः काव्य के पाँच पक्षों पर बल दिया गया है। अलंकार में काव्य शैली की बाह्य साज-सज्जा पर, रीति में काव्य के स्वाभाविक गुणों, जैसे—शुद्धता, संक्षिता, स्पष्टता, नाद-सौन्दर्य आदि पर, ध्वनि में उसके अर्थ की व्यंग्यात्मकता पर, वक्रोक्ति में अर्थ की लाक्षणिकता पर और औचित्य में विषय और शैली के पारस्परिक संतुलन पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इस दृष्टि से प्रथम चार सिद्धान्तों को रूपवादी (Formalist) तथा अतिम को वस्तुवादी कहा जा सकता है। रूपवादी सिद्धान्तों में काव्य के रूप को आकर्षक बनाने के लिए क्रमशः चार विधियों पर प्रकाश डाला गया है—(१) बाह्य तत्त्वों के द्वारा अलंकरण (२) नाद-सौन्दर्य (३) अर्थ की व्यग्यात्मकता और (४) अर्थ का वैचित्र्य। किन्तु इन्हें इसी से संतोष नही हुआ; प्रत्येक सिद्धान्त के अनुयायियों ने अन्य सिद्धान्तों के द्वारा प्रस्तुत विधियों को भी नाम बदल कर अपने सिद्धान्त के क्षेत्र में समाविष्ट कर लेने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध मे वे साम्राज्यवादी मनोवृत्ति से ग्रसित रहे। जिस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट धरती पर किसी भी अन्य शासक की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता नही देना चाहता, वह सभी शासकों की भूमि पर अपना ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष अधिकार स्थापित कर लेना चाहता है, लगभग उसी प्रकार इन सिद्धान्तो के अनुयायियों ने भी अपने सिद्धान्त के अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्त की स्वतंत्र सत्ता को मान्यता न देकर उसकी भूमि को अपने ही क्षेत्र मे ले लेने का प्रयास किया है। एक ओर अलंकारवादियों ने रस को एक अलंकार मात्र मान लिया तो वक्रोक्तिवादी कुन्तक ने सारे अर्थालंकारों को वाक्य-वक्रता मे स्थान देकर अलंकार का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया। इसी प्रकार ध्वनिवादियो ने 'अलंकार-ध्वनि' भेद की कल्पना करके अलंकार सिद्धान्त के सारे वैभव को हस्तगत कर लेना चाहा तो दूसरी ओर अलंकारवादियों ने ध्वनि के ही विभिन्न रूपों को 'गूढार्थ-प्रतीतिमूलक' अलकारों की संज्ञा देदी। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता एव क्षेत्र-विस्तार की इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर ये सिद्धान्त अनिश्चित, अमर्यादित एवं अप्रामाणिक हो गये तो दूसरी ओर इससे साहित्य-शास्त्र भी अव्यवस्थित एव असतुलित हो गया।

(ख) नवीन व्याख्याएँ—इस युग मे नवीन सिद्धान्तों के आविष्कार के साथ-साथ परम्परागत मतों की नवीन व्याख्याएँ भी हुईं। इस क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण कार्य आचार्य भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त का है। इन्होंने

मुख्यत: रस सिद्धान्त की ही नई व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। आचार्य भट्टलोल्लट ने भरत के रस-सूत्र की नई व्याख्या करते हुए अपने 'उत्पत्तिवाद' की स्थापना की। भरत का रस सिद्धान्त संयोजनवादी था—जिस प्रकार विभिन्न तत्त्वों के संयोजन से किसी वस्तु या कार्य की योजना होती है, वैसे ही विभाव, अनुभाव, संचारी के संयोजन से रस-निष्पत्ति का कार्य संपादित होता है। भरत-सूत्र का 'संयोग' शब्द भी इसी तथ्य को सूचित करता है। भट्टलोल्लट ने इसके स्थान पर रस को विभावों से उत्पन्न, संचारी भावों से पुष्ट एवं अनुभावों से व्यक्त सिद्ध करते हुए निष्पत्ति का अर्थ क्रमश: तीनों प्रसंगों में उत्पत्ति, पुष्टि एवं अभिव्यक्ति सिद्ध किया। इस प्रकार भट्टलोल्लट ने रस-निष्पत्ति को यांत्रिक रचना-व्यापार के स्थान पर क्रमिक विकासवादी रूप प्रदान किया जो अधिक वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है। आचार्य शंकुक ने भट्टलोल्लट की व्याख्या का खण्डन करते हुए 'अनुमिति वाद' की स्थापना की। उन्होंने न्याय-शास्त्र के अनुमानवाद को आधार बनाते हुए रस की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्थान पर उसकी अप्रत्यक्ष अनुमिति की संभावना को सिद्ध किया। इस दृष्टि से आचार्य शंकुक की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने पहली बार इस तथ्य का उद्घाटन किया कि रस लौकिक जीवन की प्रत्यक्ष अनुभूतियों से भिन्न कोटि की अनुभूति है। दूसरे, उन्होंने स्थायीभाव और रस का भी अन्तर स्पष्ट करने का प्रयास किया, किन्तु उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। आचार्य भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति की क्रिया को तीन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं —अभिधा (अर्थ-बोध), भावकत्व एवं भोजकत्व—में विभाजित करते हुए साधारणीकरण के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। यद्यपि परवर्ती आचार्यों ने भट्टनायक की स्थापनाओं को निराधार सिद्ध करने का प्रयास किया है किन्तु वे इसमें अधिक सफल नहीं हुए। आधुनिक साहित्य-शास्त्र एवं सौन्दर्य-शास्त्र की नवीनतम अनुसंधानों से यह सिद्ध हो गया है कि भट्टनायक का मत बहुत महत्त्वपूर्ण था। आधुनिक युग में एक ओर आई० ए० रिचर्ड्स ने काव्यास्वादन की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए ऐसी प्रक्रियाओं का विवेचन किया है जो उपर्युक्त तीनों प्रक्रियाओं के अनुरूप हैं, तो दूसरी ओर सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भाववादी चिन्तकों ने इम्पैथी (Empathy) सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है, जिसे भट्टनायक के शब्दों में 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त कह सकते है। इम्पैथी का अर्थ समानुभूति या साधारणीकरण ही होता है। अस्तु, भट्टनायक की देन का आधुनिक दृष्टि से भी बहुत महत्व है।

अभिनव गुप्त ने भट्टनायक की अनेक मान्यताओं का खंडन करते हुए भी साधारणीकरण को स्वीकार किया है। किन्तु अब तक रस-निष्पत्ति के सभी व्याख्याताओं द्वारा काव्य के पाठक या श्रोता के व्यक्तित्व की उपेक्षा होती रही, कसी का भी ध्यान इस तथ्य की ओर नहीं गया कि रसानुभूति में काव्य-वस्तु के अतिरिक्त स्वयं पाठक का भी थोड़ा-बहुत योग-दान रहता है। अभिनव गुप्त ने इस ओर ध्यान देते हुए अभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। उनके मतानुसार काव्या-

स्वादन से पाठक के हृदय में किसी नये तत्त्व की सृष्टि नहीं होती अपितु उसकी जन्मजात वासनाएँ ही उद्वेलित होकर व्यक्त हो जाती हैं। ये वासनाएँ सभी प्राणियों में विद्यमान होती हैं। आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में वासनाओं को सहज प्रवृत्तियों (Instincts) का नाम दिया जा सकता है। इस दृष्टि से अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त, फ्रायड़ के वासना सिद्धान्त एवं क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद के बहुत समीप पड़ता है। अरस्तू और अभिनवगुप्त—दोनों ने ही काव्य के माध्यम से वासनाओं के विरेचन या उनकी अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है किन्तु एक ने केवल दूषित वासनाओं पर ही बल दिया जबकि दूसरे ने ऐसा नहीं किया। फ्रायड ने भी वासनाओं की अभिव्यक्ति को स्वीकार किया पर वे सारा बल काम-वासना पर ही केन्द्रित कर देते हैं जबकि अभिनव गुप्त ऐसा नहीं करते। क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद का सम्बन्ध मुख्यतः काव्य-रचयिता की सहजानुभूति से है जबकि अभिनव गुप्त का मत पाठक की सहज प्रवृत्तियों से सम्बद्ध है। अस्तु, इस अन्तर के होते हुए भी अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में नवीन सिद्धान्तों की स्थापना एवं पुराने सिद्धान्तों की नयी व्याख्या—इन दोनों ही क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। वस्तुतः इस युग को हम भारतीय साहित्य-शास्त्र का स्वर्ण-युग कह सकते हैं। वैसे भी यह भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग माना जाता है।

(३) **संशोधन काल (११वीं शती से १७वीं शती तक)**—इस काल में मम्मट (११-१२वीं शती), रुय्यक (१२वीं शती), हेमचन्द्र (१२वीं शती), रामचन्द्र गुण चन्द्र (१२वीं शती), जयदेव (१३वीं शती), विश्वनाथ (१३-१४वीं शती,) भानुदत्त (१३-१४वीं शती), जगन्नाथ (१७वीं शती) प्रभृति आचार्य हुए जिन्होंने किसी नये सिद्धान्त की स्थापना न करके पूर्व प्रचलित सिद्धान्तों में किंचित् संशोधन एवं समन्वय प्रस्तुत किया। इस युग के आचार्यों में पूर्ववर्ती आचार्यों जैसी कट्टरवादिता का अभाव मिलता है ; वे किसी एक ही सिद्धान्त से न बँध कर विभिन्न सिद्धान्तों की उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि इनके ग्रन्थों में रस, ध्वनि, अलंकार रीति, वक्रोक्ति आदि सभी को थोड़ा-बहुत स्थान प्राप्त हुआ है, यह दूसरी बात है कि वे किसी को कम महत्त्व देते हैं और किसी को अधिक। किन्तु उनकी यह समन्वय-वादिता किसी प्रौढ, व्यापक एवं मौलिक दृष्टिकोण की सूचक नहीं है अपितु, सार-संकलन की प्रवृत्ति की द्योतक है। इनमें एक-दो आचार्यों को छोड़कर शेष में विवेचन की गंभीरता, विश्लेषण की सूक्ष्मता एवं निष्कर्षों की मौलिकता का प्रायः अभाव है। इस दृष्टि से यह युग भारतीय साहित्य-शास्त्र की जरा अवस्था का सूचक है।

(४) **पद्यानुवाद काल (१७वीं—१९वीं शती)**—इस काल में संस्कृत का स्थान आधुनिक भाषाओं ने ले लिया था, अतः भारतीय साहित्य-शास्त्र भी अनेक प्रादेशिक भाषाओं में विभक्त हो गया। यहाँ हम केवल हिन्दी की दृष्टि से इसे पद्यानुवाद-

काल कह सकते हैं क्योंकि इस युग में केशव, चिन्तामणि, कुलपति सोमनाथ, भिखारी दास, प्रतापसाहि आदि आचार्य हुए जिन्होंने पद्यबद्ध रीति ग्रन्थ लिखे। यद्यपि इस क्षेत्र में शताधिक कवि अवतरित हुए किन्तु शास्त्रीय विवेचन का कार्य कवियों के वश का काम नहीं था। यही कारण है कि इनकी देन का मूल्यांकन करते हुए डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र को लिखना पड़ा—"यह बात स्पष्ट रूप में कही जा सकती है कि हिन्दी के अधिकांश लेखकों (कवियों) का लक्षण भाग अस्पष्ट अथवा अपूर्ण है।····ये आचार्यत्व के अयोग्य हैं। वे कवि ही प्रधान रूप से हैं और उनका आचार्यत्व या शास्त्रीय विवेचन का प्रयत्न बहुत सफल नही है।"[१] इसी निष्कर्ष की पुष्टि डा० सत्यदेव चौधरी ने भी की है। उनके शब्दों में—'चिन्तामणि आदि आचार्यों ने भारतीय काव्य-शास्त्र के विकास में कोई योग-दान नहीं दिया—यह स्पष्ट है। हिन्दी के वर्तमान काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्माण में भी इनका योग-दान नहीं है—यह भी स्पष्ट है।'[२]

५. **नवोत्थान काल (१६वीं शती के अंतिम चरण से अब तक)**—इस काल को भी हम मुख्यतः तीन युगों में विभक्त कर सकते हैं—(१) भारतेन्दु-द्विवेदी-युग (१८७५-१६२५) (२) शुक्ल युग (१६२६-१६४०) (३) शुक्लोत्तर युग (१६४१ से अब तक) इनमें से प्रथम युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्र-बन्धु, श्याम सुन्दर दास प्रभृति विद्वान आते हैं जिन्होंने अपने कुछ लेखों एवं पुस्तकों में साहित्य-सिद्धान्तों का विवेचन किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपने "नाटक' ग्रन्थ में नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए प्राचीन सिद्धान्तों के नवीनीकरण या प्राचीन और नवीन के समन्वय पर बल दिया। उन्होंने भारतीय नाटकों के साथ यूरोपीय नाटकों की भी चर्चा करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र के समन्वय की ओर संकेत किया। (डा० श्याम सुन्दर दास ने इस प्रौढ ग्रन्थ को किसी अन्य का रचित बताया है, जो ठीक नही। भारतेन्दु ने इसे अपने आराध्यदेव को समर्पित करते हुए भूमिका में इसे स्वरचित बताया है, अतः इस पर संदेह करना अनुचित है। डा० श्याम सुन्दर दास जी की शंका का निराकरण हम अन्यत्र विस्तार से कर चुके हैं।) आगे चलकर अन्य विद्वानों ने भी भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की सामग्री को हिन्दी गद्य में प्रस्तुत किया है। यद्यपि इनमें मौलिकता का अभाव है किन्तु इन्होंने रीतिकालीन दृष्टिकोण, परम्परा और शैली को त्याग कर नये दृष्टिकोण और नयी शैली (गद्य में विवेचन करने की शैली) का प्रवर्त्तन करके स्तुत्य कार्य किया। शुक्ल-

---

१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, पृ० ३५।

२. हिन्दी रीति-परम्परा के प्रमुख आचार्य : डा० सत्यदेव चौधरी ; पृ० सं०, पृ० ७५०।

युग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा परम्परागत साहित्य-शास्त्र को नया रूप प्राप्त हुआ। उन्होंने आधुनिक युग की परिवर्तित परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए प्राचीन सिद्धान्तों की निजी दृष्टि से व्याख्या की—विशेषतः रस-सिद्धान्त की। इस क्षेत्र में उनकी देन महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने आनन्दवादी रस-सिद्धान्त को नीतिवादिता से समन्वित करते हुए रस की दो कोटियाँ निर्धारित की हैं। जहाँ हमारा काव्य के आश्रय से तादात्म्य हो जाता है वहाँ उच्चकोटि की रस-दशा प्राप्त होती है अन्यथा —नायक के दुष्चरित्र होने की स्थिति में—मध्यम कोटि की रसानुभूति होती है। रस के विभिन्न स्थायी भावों की भी उन्होने विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है। अस्तु, इस क्षेत्र में आचार्य शुक्ल की देन महत्त्वपूर्ण है।

शुक्लोत्तर युग के साहित्य-शास्त्रीय विद्वानों में डा० गुलाबराय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी और डा० नगेन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। डा० गुलाबराय ने भारतीय एवं पाश्चात्य सिद्धान्तो को सरल एवं सुबोध शैली में प्रस्तुत करके परवर्ती अनुसंधान-कर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मुख्य क्षेत्र ऐतिहासिक एवं व्यावहारिक समीक्षा का है, किन्तु इस क्षेत्र में भी उन्होने अनेक लेखों में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। आचार्य वाजपेयी का भी मुख्य क्षेत्र व्यावहारिक समीक्षा का है फिर भी उन्होंने अनेक निबन्धो मे भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र को निकट लाने का स्तुत्य प्रयास किया है। डा० नगेन्द्र का असली क्षेत्र साहित्य-शास्त्र है। इस क्षेत्र में उनकी देन तीन रूपो में स्वीकार की जा सकती है; एक तो उन्होंने परंपरागत भारतीय सिद्धान्तो की नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जो आधुनिकता एवं मौलिकता से युक्त हैं। रस-निष्पत्ति की नई व्याख्या प्रस्तुत करते हुए उन्होने स्पष्ट किया है कि पाठक का तादात्म्य काव्यगत आश्रय से नही अपितु स्वयं काव्य-रचयिता से ही होता है। इसी प्रकार ध्वनि, रीति आदि के क्षेत्र में भी उन्होने अनेक पूर्व प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण किया है। दूसरे, उन्होने पाश्चात्य काव्य-कास्त्र को भी विस्तृत व्याख्याओं के सहित हिन्दी मे प्रस्तुत किया है तथा करवाया है। तीसरे, प्राचीन और नवीन, भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों की पारस्परिक तुलना के द्वारा उनके सापेक्ष महत्त्व का दिग्दर्शन कराया है। वस्तुतः उन्होंने हिन्दी-समीक्षा को एक ऐसी व्यापक भूमि प्रदान की है जिससे विश्व-साहित्य-शास्त्र के दो चरम छोरों—ग्रीक एवं संस्कृत साहित्य शास्त्र—का गुम्फन उसमें हो जाता है।

उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त आचार्य बलदेव उपाध्याय, श्री रामदहिन मिश्र, डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, डा० गोविन्द त्रिगुणायत, डा० रामलाल सिंह, डा० भोला शंकर व्यास, डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, श्री राममूर्त्ति त्रिपाठी, डा० सत्यदेव चौधरी आदि विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में भारतीय साहित्य-शास्त्र के विभिन्न पक्षों एवं

सिद्धान्तों का विवेचन आधुनिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि परम्परागत भारतीय साहित्य-शास्त्र हिन्दी में आकर और भी अधिक विकसित एवं प्रौढ हो गया है। 'साहित्य-विज्ञान' के रूप में वह शास्त्रीय रूढियों एवं परंपरागत असंगतियों से मुक्त होकर नये रूप में प्रस्तुत हो रहा है—कदाचित् इसे भी उसके विकास की एक नई मंजिल माना जा सके। हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, बंगला, आदि के क्षेत्रों में भी कार्य हुआ, जिसका परिचय देने में हम अपनी अल्पज्ञता के कारण असमर्थ हैं।

आधारभूत विषयों की संक्षिप्त रूप-रेखा

२—पाश्चात्य काव्य शास्त्र

●

पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के इतिहास को सामान्यत: तीन कालों में विभक्त किया जाता है—(१) प्राचीन काल—५वी शती ई० पू० से ४थी शती ई० तक। (२) मध्य काल—५वीं शती ई० से १५वी शतीतक। (३) आधुनिक काल—१६वी शती से अब तक।यहाँ तीनों कालों का संक्षिप्त परिचय क्रमश: प्रस्तुत किया जाता है। (१) प्राचीनकाल—इस काल के आचार्यों मे प्लेटो (४२७ ई० पू०–३४७ ई० पू०), अरस्तू (३८४ ई० पू०–३२२ ई० पू०), लोंजाइनस (पहली शती), होरेस (६५ ई० पू०–८ ई० पू०), सिसरो (१०६–४३ ई०), क्विण्टिलियन (४०–११८ ई०), डिमैट्रियस (प्रथम शती) आदि के नाम उल्लेखनीय है। प्लेटो मूलत: साहित्य-शास्त्री नहीं थे, उन्होंने अपने 'गणतन्त्र' में राजनीति के सिद्धान्तों की विवेचना करते हुई प्रासंगिक रूप में काव्य की चर्चा की है। काव्य के सम्बन्ध में उनका विचार था कि वह मिथ्या संसार की भी मिथ्या अनुकृति है—अत: वह सत्य से दुगुनी दूर होता है। दूसरे, वे जीवन एवं समाज के लिए काव्य को हेय समझते थे क्योंकि इससे हमारी भावनाएँ उद्वेलित हो जाती है। प्लेटो के विचार से एक आदर्श गणराज्य में किसी भी ऐसी वस्तु को स्थान नही दिया जा सकता जो लोगों की भावनाओं को उभार कर उन्हें दुर्बल एवं चरित्रहीन बनावे। इसीलिए उन्होंने अपने आदर्श राज्य में से कविता का निष्कासन करते हुए कहा था—"अत: अब हमारे लिए यह न्याय होगा कि हमें जिस देश को सुशसित रखना है उसमें कवि का प्रवेश निषेध कर दें क्योंकि वह आत्मा के इस (दुर्बल) अंश को जागृत, पोषित और परिपुष्ट करता है तथा विवेक-अंश का क्षय करता है।"[१] इस प्रकार प्लेटो ने काव्य का विरोध कहते हुए उसके सम्बन्ध में दो तथ्यों पर प्रकाश डाला—(१) काव्य प्रकृति की अनुकृति है। (२) काव्य हमारी भावनाओं को उद्वेलित करत है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने उपर्युक्त दोनों तथ्यों को स्वीकार करते हुए भी कविता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। उन्होंने दोनों तथ्यों को दो महत्त्वपूर्ण

---

१. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा : डा० नगेन्द्र, पृ० २०।

सिद्धान्तों का रूप दिया—(१) अनुकृति सिद्धान्त एवं (२) विरेचन सिद्धान्त। जहाँ प्लेटो ने अनुकृति-जन्य आनन्द को मिथ्या वस्तु पर आधारित आनन्द घोषित किया था वहाँ अरस्तू ने इसे ज्ञानार्जनजन्य आनन्द माना। उन्होंने प्रतिपादित किया—"जिन वस्तुओं के प्रत्यक्ष दर्शन से हमें क्लेश होता है उन्हीं की यथावत् अनुकृति का भावन आह्लादकारी बन जाता है, जैसे किसी अत्यन्त जघन्य पशु अथवा शव की रूप-आकृति का उदाहरण लिया जा सकता है। इसका कारण यह है कि ज्ञान के अर्जन से अत्यन्त प्रबल आनन्द प्राप्त होता है। केवल दार्शनिक को ही नहीं सामान्य व्यक्ति को भी —जिसकी ज्ञानार्जन-क्षमता अपेक्षाकृत कही सीमित होती है। अतः किसी प्रतिकृति को देखकर मनुष्य के आह्लादित होने का कारण यह है कि उसका भावन करने में वह कुछ ज्ञानप्राप्त करता है या निष्कर्ष ग्रहण करता है—शायद वह अपने मन में कहता है, 'अरे ! यह तो अमुक है !'—क्योंकि यदि आपने मूल वस्तु को नहीं देखा तो आपका आनन्द अनुकरण-जन्य न होगा; वह अंकन, रंग-योजना या किसी अन्य कारण पर आधृन होगा।"[२] इस प्रकार अरस्तू महोदय ने प्लेटो के इस आक्षेप का निराकरण करने का प्रयास किया कि काव्य अनुकरण-मूलक होने के कारण अज्ञान या मिथ्या का प्रचार करता है या काव्यजन्य आनन्द मिथ्या आनन्द है। अवश्य ही उन्हें इसमें सफलता मिल गई किन्तु उनके प्रतिपादन में कुछ दूसरे प्रकार की असंगतियाँ आगईं। वे एक ओर तो काव्य-जन्य आनन्द को ज्ञानार्जन का आनन्द बताते है पर दूसरी ओर यह भी कहते है कि यह आनन्द उसी अवस्था में मिलेगा जबकि हमने कला में प्रस्तुत वस्तु को पहले देखा हो ; ऐसी स्थिति में—देखी हुई वस्तु को पुनः देखने में —ज्ञानार्जन की बात कैसे स्वीकार की जा सकती है ! नई वस्तु को देखना ज्ञानार्जन कहलाता है ; देखी हुई को पुनः देखना 'ज्ञानार्जन' नहीं कहलाता अपितु 'प्रत्यभिज्ञा' या 'पहचान' कहलाता है। दूसरे, ज्ञानार्जन से आनन्द की उपलब्धि की बात भी स्वीकार नही की जा सकती, अन्यथा काव्य की अपेक्षा इतिहास, भूगोल, दर्शन एवं विज्ञान की पुस्तको से अधिक आनन्द मिलता, क्योकि वे काव्य की अपेक्षा अधिक ज्ञान प्रदान करती है। अतः हम आचार्य अरस्तू के उपर्युक्त मंतव्य को स्वीकार नहीं कर सकते। वस्तुतः उन्होने इस प्रकार की युक्तियाँ अपने युग के प्लेटोवादियों की तुष्टि के लिए ही कहीं थी। किन्तु उनकी संतुष्टि इससे भी और अच्छे ढंग से हो सकती थी। प्लेटो मानते थे कि वास्तविक सत्य तो केवल सूक्ष्म विचार (Idea) के रूप में अध्यात्म जगत् में ही स्थित है, भौतिक जगत् में जो कुछ है वह उस सूक्ष्म विचार का प्रतिबिम्ब मात्र है तथा इसीलिए मिथ्या है। दूसरे शब्दों में सूक्ष्म जगत् सत्य है और स्थूल भौतिक जगत् मिथ्या है। इस दृष्टि से काव्य के पक्ष में हम तर्क दे सकते हैं कि कवि स्थूल भौतिक जगत को पुनः सूक्ष्म आइडिया (Idea) में परिवर्तित कर

२. वही, पृ० २७।

देता है—मिथ्या जगत् को सत्य विचार मे बदल देता है। जिस प्रकार गणित का नियम है—Two nagatives makes a positive ; उसी प्रकार द्विगुणित मिथ्या=मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति=का अर्थ सत्य किया जा सकता है ; कम से कम काव्य के प्रसंग में तो यह बात सर्वांश में लागू होती है। इस प्रकार प्लेटो के ही तर्क से उनके आक्षेप का निराकरण किया जा सकता था।

प्लेटो के दूसरे आक्षेप का निराकरण करते हुए अरस्तू ने विरेचन-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने त्रासदी का विवेचन करते हुए लिखा—"त्रासदी किसी गंभीर, स्वतःपूर्ण तथा निश्चित आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है···· जिसमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है।"[3] आगे संगीत-कला के प्रसंग में उन्होंने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा—"करुणा और त्रास से आविष्ट व्यक्ति—प्रत्येक भावुक व्यक्ति—इस प्रकार का अनुभव करता है, और दूसरे भी, अपनी-अपनी संवेदन-शक्ति के अनुसार प्रायः सभी, इस विधि से एक प्रकार की शुद्धि का अनुभव करते हैं, उनकी आत्मा विशद और प्रसन्न हो जाती है। इस प्रकार विरेचक राग मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करते हैं।"[४] अस्तु, विरेचन-सिद्धान्त से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य दूषित भावनाओं के विरेचन या निष्कासन के द्वारा हमारे मन को निर्दोष बनाता है—अतः प्लेटो का यह आक्षप कि काव्य दूषित भावनाओं को उभार कर समाज को दुर्बल एवं चरित्र-हीन बनाता है, मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न अवश्य उठता है कि यदि त्रासदी से हमारी दूषित भावनाएँ विरेचित हो जाती है तो क्या कामदी से हमारी निर्दोष या पवित्र भावनाएँ भी विरेचित हो जाती हैं ? ऐसी स्थिति मे जहाँ त्रासदी से नैतिक लाभ होता है वहाँ कामदी से नैतिक हानि होनी चाहिए। यदि ऐसा नही है तो कामदी से आनन्दानुभूति का क्या आधार है ? वस्तुतः हमारे विचार से अरस्तू का विरेचन-सिद्धान्त केवल त्रासदी पर ही आधारित होने के कारण एकांगी एवं अपूर्ण है। वासनाओ की अभिव्यक्ति भारतीय आचार्य अभिनव गुप्त ने भी मानी है, किन्तु उनका अभिव्यक्तिवाद केवल त्रासदी पर ही नही, सभी प्रकार के काव्य पर लागू होता है, अतः वह अधिक व्यापक एवं संगत है। इस दृष्टि से 'विरेचन' का भी अर्थ 'अभि-व्यक्ति' करते हुए उसे अधिक व्यापक एवं सगत रूप दिया जा सकता है।

उपर्युक्त त्रुटियों के होते हुए भी अरस्तू का काव्य-विवेचन बहुत प्रौढ़ है। उन्होंने काव्य के विभिन्न रूपों एवं उसके विभिन्न तत्त्वों की बहुत ही स्पष्ट रूप में व्याख्या की है, इसीलिए वे समस्त पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं।

इस काल के तीसरे प्रमुख आचार्य लोंजाइनस (Longinus) हैं जिन्होंने अपने

---

३. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : डा० नगेन्द्र, पृ० ८७।
४. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा : डा० नगेन्द्र, पृ० ४२।

ग्रन्थ "On the sublime" में उदात्त तत्त्व का विवेचन किया। उन्होंने उदात्त या औदात्य को ही काव्य के आत्म-तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए लिखा—'सच्चे औदात्य से हमारी आत्मा जैसे अपने आप ही ऊपर उठकर गर्व से उच्चाकाश में विचरण करने लगती है तथा हर्ष और उल्लास से परिपूर्ण हो उठती है, मानो जो कुछ हमने सुना है वह स्वयं अपनी ही कृति हो।"[५] अस्तु, उनके विचार से काव्यजन्य आनन्द का मूल कारण काव्यगत औदात्य ही है। जिसके उन्होंने पाँच उद्गम-स्रोत बताये हैं—(१) विचारों की महानता, (२) भावों का उद्दाम एवं शक्तिशाली प्रतिपादन, (३) अलंकारों की समुचित योजना, (४) उत्कृष्ट अभिव्यक्ति और (५) गरिमामय रचना-विधान। इन सभी स्रोतों के पीछे वस्तुतः लेखक या कवि के व्यक्तित्व की महानता निहित होती है, क्योकि उनके विचार से महान आत्माओं की वाणी से ही औदात्य की झंकृति होती है। इस दृष्टि से लोजाइनस की सबसे बड़ी देन यह मानी जाती है कि उन्होंने साहित्य के प्रति व्यक्तिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, इसी लिए उन्हें प्रथम स्वच्छन्दतावादी या व्यक्तिवादी आलोचक होने का गौरव प्राप्त है। वैसे उनके सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए हमने अन्यत्र स्पष्ट किया है कि औदात्य काव्य का अतिरिक्त गुण है—जिसका वास्तविक क्षेत्र धर्म, दर्शन एवं नीतिशास्त्र है—अतः इसे काव्य के आधारभूत तत्त्व के रूप में मान्यता नही दी जा सकती।

इस काल के रोमी आचार्यों में होरेस का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने काव्य के विभिन्न तत्त्वों पर प्रकाश डालते हुए औचित्य पर विशेष बल दिया है। उनके शब्दों में—"यदि वक्ता के शब्द परिस्थिति के अनुकूल नही तो सम्पूर्ण रोमवासी उच्चवर्ग के हों या निम्न वर्ग के—उस पर जी खोलकर हँसगे।"[६] वस्तुतः उनका औचित्य तत्त्व स्वाभाविकता संगति, सामंजस्य आदि गुणों को ही समन्वित रूप में प्रस्तुत करता है। आगे चलकर सिसरो, क्विण्टिलियन, डिमैट्रियस प्रभृति आचार्यों ने शैली पक्ष पर अधिक बल देते हुए अलंकार एवं गुण-दोषों की विवेचना विस्तार से की है। अलंकारों के सूक्ष्म विश्लेषण की दृष्टि से समस्त पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में क्विण्टिलियन एवं डिमैट्रियस का सर्वोच्च स्थान है। साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि इनका अलंकार, रीति एवं गुण सम्बन्धी वर्गीकरण एवं विश्लेषण भारतीय अलंकारवादियों एवं रीतिवादियों से गहरा मिलता-जुलता है।

अस्तु, इस काल में पाश्चात्य साहित्य-शास्त्र का सर्वांगीण विकास परिलक्षित होता है। प्लेटो से डिमैट्रियस तक विभिन्न आचार्यों ने काव्य की सर्जन-प्रक्रिया, उसकी आस्वादन-प्रक्रिया, उसके भाव-पक्ष, विचार-पक्ष, शैली पक्ष आदि विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए अनेक नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये, जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

---

५. काव्य में उदात्त तत्त्व : डा० नगेन्द्र, पृ० ५२।
६. काव्य-कला, डा० नगेन्द्र, पृ० ६।

(२) **मध्य काल**—यह काल बौद्धिक चिन्तन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है, यहाँ तक कि इसे इतिहासकार 'अंधकार का युग' की संज्ञा देते हैं। डा० केसरीनारायण शुक्ल ने इस युग की परिस्थितियों का विश्लेषण करते हुए लिखा है—'ईसा की प्रथम दो शताब्दियों के बाद व्यापक अराजकता का समय आया। इस बीच रोमन साम्राज्य पूर्वी और पच्छिमी दो टुकड़ों में टूट गया। ......इस उथल-पुथल के फलस्वरूप रोम का महत्त्व लुप्त होगया और पश्चिमी योरुप पर पाँचवीं शताब्दी के बाद अंधकार का अभेद्य पर्दा पड़ गया, जिसके साथ राजनीतिक अस्त-व्यस्तता और मानसिक पक्षपात का आगमन हुआ। इस समय के बाद विद्या का ह्रास हो गया, प्राचीन ग्रन्थ लुप्त होगए और रोमन शैक्षिक विधान का, जिसने कि पश्चिम में प्राचीन अध्ययन के क्रम को बनाए रखा था, सहसा अन्त हो गया। ज्ञानार्जन की पूर्व परंपराएँ नष्ट हो गईं और बौद्धिक कार्य-कलाप से लोगों के मन विरत हो गए।'[७]

इस युग के साहित्य-चिन्तकों में मुख्यतः इटैलियन साहित्यकार दान्ते का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने एक ओर अपने 'डिवाइन कामेडी' में अन्योक्ति पद्धति की सम्यक् रूप में प्रतिष्ठा की तो दूसरी ओर उन्होंने काव्य के विभिन्न पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किये। उन्होंने परम्परागत मृत भाषा की अपेक्षा जीवित जन-भाषा को साहित्य के लिए अधिक उपयुक्त समझा। अतः उन्होने जन-भाषा का समर्थन जोरदार शब्दों में किया। इसी प्रकार काव्य-विषय के सम्बन्ध में भी निर्णय देते हुए उन्होंने तीन विषयों को—युद्ध, प्रेम और नैतिक सौन्दर्य को—उत्तम घोषित किया। काव्य-शैली का भी उन्होंने निजी दृष्टिकोण से विश्लेषण करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये। अस्तु, इसमें कोई सदेह नही कि दान्ते ने काव्य-शास्त्र के कई पक्षों पर नये विचार प्रस्तुत किये जो पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं।

(३) **आधुनिक युग**—पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में आधुनिक युग का सूत्रपात करने का श्रेय सर फिलिप सिडनी (१६वी शती) को है, जिन्होंने अपने निबन्ध 'The Defence of Poesic' (कविता की वकालत) में सुधारवादियों के इस आक्षेप का निराकरण किया कि कविता अनाचार एवं अनैतिकता का प्रचार करती है। उन्होंने प्लेटो के मत को भी संशोधित रूप में प्रस्तुत करते हुए सिद्ध किया कि प्लेटो का आक्षेप केवल अनैतिक साहित्य के सम्बन्ध में है, सारे साहित्य के सम्बन्ध में नही। इतना ही नही, उन्होंने नीतिवादी दृष्टिकोण से काव्य को उपयोगी सिद्ध करते हुए इसके पक्ष में कई तर्क दिये, जैसे, कविता मनुष्य को सभ्य और सुसंस्कृत बनाती है, वह नैतिकता की शिक्षा प्रभावशाली ढंग से दे सकती है तथा वह एक आदर्श एवं श्रेष्ठ जगत् की कल्पना प्रस्तुत करती है। इस प्रकार सिडनी ने अपने लेख के द्वारा काव्य सम्बन्धी परम्परागत दृष्टिकोण को बदलने का स्तुत्य प्रयास किया।

---

७. पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्त : डा० केसरी नारायण शुक्ल, पृ० ११६-११७।

सत्रहवी शती के आलोचकों में जान ड्राइडन का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने साहित्य-शास्त्र के क्षेत्र में अनेक नई स्थापनाएँ प्रस्तुत कीं, जिनमें से कुछ ये हैं—(१) कवि का कार्य जीवन को स्वाभाविक रूप मे चित्रित करना है। (२) कविता का मुख्य लक्ष्य आनन्द देना है, शिक्षा देना गौण है। (३) कवि बिम्बों के माध्यम से भावनाओं का चित्रण करता है। (४) कवि कल्पना-शक्ति के आधार पर काव्य-रचना करता है। (५) अरस्तू के संकलन-त्रय का निर्वाह आवश्यक नहीं है। ड्राइडन ने इन नई मान्यताओं के द्वारा अनेक परंपरागत धारणाओं पर तीखा प्रहार किया। विशेषतः कवि-कल्पना सम्बन्धी मत से अरस्तू का अनुकृति सिद्धान्त निराधार सिद्ध हो जाता है।

अठारहवीं शती के साहित्य-चिन्तकों में पोप, जान्सन, लेसिंग, शिलर और गेटे का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पोप ने परम्परागत तत्त्वों को अपनाते हुए भी नये दृष्टिकोण का परिचय दिया। उन्होंने कविता में स्वाभाविकता एवं भावात्मकता को प्रमुखता देते हुए लिखा—"प्रकृति की भाँति कविता में भी जो हमारे मन को प्रभावित करती है उसके पृथक-पृथक अंग-प्रत्यंगों की सुडौलता नहीं होती, हम एक आँख अथवा अधर को सौन्दर्य की संज्ञा नहीं देते—सौन्दर्य उन सबकी सम्मिलित शक्ति एवं निष्पन्न परिणाम की संज्ञा है।"[८] काव्यानन्द का स्रोत भावात्मकता को मानते हुए उन्होने प्रतिपादित किया—"परन्तु ऐसी कविताओं पर जिनमें न ज्वार आता है, न भाटा ; जो शुद्ध होते हुए भी भाव-विहीन होती है ; जो एक ही रीति से मंद-मंद प्रवाहित होती है ; जो दोषों में बचती हुई एक ही बँधी-बँधाई गति अपनाये रहती है—हम दोष भले न लगायें परन्तु (उनसे उबकर) सो तो सकते हैं।"[९] पोप ने स्वाभाविकता एव सहजता का अनुमोदन करते हुए भी काव्याभ्यास का समर्थन किया क्योंकि उनके विचार से 'लेखन मे सच्ची सहजता कला (अभ्यास) से आती है, संयोग से नही—जैसे, जिन्होने नृत्य-कला सीखी हो उनकी गति मे सबसे अधिक सहजता होती है।"[१०] इस प्रकार साहित्य की विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में उन्होने समन्वयवादी दृष्टिकोण का परिचय दिया।

डा० जानसन अपने युग के सबसे अधिक प्रभावशाली आलोचक माने जाते है। उन्होंने प्राचीन सिद्धान्तों को नये रूप में प्रस्तुत करते हुए उनका दृढ़तापूर्वक समर्थन किया। उनकी महत्त्वपूर्ण स्थापना यह है कि साहित्य में जब सामान्य मानव-स्वभाव का उद्घाटन होता है तो दर्शक या पाठक उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है।[११] साथ ही उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि काव्य न केवल आनन्द प्रदान करता है वह हमें शिक्षा भी देता है। प्राचीन और नवीन के बीच उन्होंने भी

८-१०. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा, पृ० १०२-१०५।
११. आलोचना के सिद्धान्त : शिवदान सिंह चौहान, पृ० १००।

पोप की भाँति समन्वय का मार्ग अपनाते हुए अपना मत व्यक्त किया है—'लेखक का प्रथम प्रयास प्रकृति और परंपरा में भेद करना होना चाहिए—अर्थात् जिसकी प्रतिष्ठा उपयुक्त होने के नाते हुई है और जो प्रतिष्ठित हो जाने के कारण ही उपयुक्त है : इन दोनों का भेद उसे हृदयंगम कर लेना चाहिए जिससे वह नवीनता लाने की लालसा में अनिवार्य सिद्धान्तों का अतिक्रमण न करे और न ऐसे नियमों को—जिनके प्रवर्तन का अधिकार किसी साहित्यिक तानाशाह को न था—तोड़ने के अनावश्यक डर के मारे अपनी दृष्टि की परिधि में आये हुए सौन्दर्य का समावेश करने से विमुख हो।"[१२] अपनी इसी नीति के कारण उन्होंने त्रासदी और कामदी आदि के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक रूढ़ियों का वहिष्कार निर्ममतापूर्वक किया।

लेसिंग, गेटे, शिलर आदि जर्मन आलोचक मूलतः साहित्य-सर्जक थे, किन्तु उन्होंने साहित्य की समस्याओं पर भी गौण रूप से विचार किया है। लेसिंग ने कला की प्रेषणीयता पर सर्वाधिक बल देते हुए इस पक्ष का विश्लेषण प्रस्तुत किया। गेटे ने काव्य के विभिन्न रूप-भेदों और उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करते हुए क्लासिक काव्य को स्वस्थ, प्राणवान एवं आनन्ददायी तथा रोमांटिक काव्य को रुग्ण, दुर्बल एवं विकृत सिद्ध किया। कविता की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में भी उन्होने मौलिक सामग्री की अपेक्षा परम्परागत वस्तु को ही अपनाने का उपदेश देते हुए नये कवियों को बताया कि उन्हें अपने आत्म-तत्त्व के अनुकूल ही विषय-वस्तु का चयन करना चाहिए। उनके शब्दों में—"उपलब्ध सामग्री के आधार पर सारा कार्य सहज ही और अच्छे ढंग से निष्पन्न हो जाता है। तथ्य और चरित्र उपलब्ध हों तो कवि को केवल उनमें प्राण-संचार करना होता है।·······वस्तुतः मै तो उन्ही विषयों के चयन का परामर्श दूँगा जिन पर पहले कार्य हो चुका हो।········हमारे अधिकांश युवा लेखकों में इसके सिवाय कोई दोष नहीं कि उनका आत्म तत्त्व महत्वपूर्ण नही होता।" उन्होंने अरस्तू के काव्य-शास्त्र में नया परिशिष्ट जोड़कर अरस्तू के अनेक सदिग्ध मतों की व्याख्या करने का भी प्रयास किया था।

शिलर मूलतः नाटककार था। उन्होने अपने प्रसिद्ध लेख 'सरल तथा भाव प्रवण कविता' में सौन्दर्य-सिद्धान्तो के आधार पर काव्य-कला की व्याख्या तथा उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों के वर्गीकरण का महत्त्वपूर्ण प्रयास किया। उन्होने अपने युग की प्राचीन यूनानी युग से तुलना करते हुए भावानुभूति की प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखा है—'प्राचीन यूनानियों की बात सर्वथा भिन्न थी। उनके समय में सभ्यता का ह्रास नहीं हुआ था, न वह अतिवादिता की ऐसी सीमा तक पहुँची थी कि प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद आवश्यक हो जाता। उनके सामाजिक जीवन का संपूर्ण ढाँचा किसी कृत्रिम

---

१२. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा, पृ० ११८।
१३. वही, पृ० १२६।

अवधारण में विश्रान्ति न पाकर भावनाओं में या कला-कृति में विश्रान्ति पाता था....अतः यदि वे मनुष्य से बाहर प्रकृति को देखते थे तो उनके लिए आश्चर्यान्वित होने का कोई कारण न होता था और न उन्हें किन्हीं ऐसे माध्यमों की आवश्यकता का अनुभव होता था जिनके द्वारा वे प्रकृति का पुनः अन्वेषण कर सके।.......लेकिन हम अपने आप में सामंजस्य नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किये हैं उनसे हम असंतुष्ट हैं। अतः हम उससे दूर भागने के सिवा कोई रुचि उसके प्रति नहीं रख पाते—हमने मानवता के जो भी अनुभव किये हैं उनसे हम असंतुष्ट हैं। अतः हम उससे दूर भागने के सिवा कोई रुचि उसके प्रति नहीं दिखाते, हम तो उस अपरूप आकार को अपनी दृष्टि से दूर ही रखना चाहते हैं।'[१४] इस प्रकार हम देखते हैं कि इन जर्मन साहित्यकारों ने साहित्य की व्यावहारिक समस्याओं को युग-परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में रखकर विचार किया, जो दृष्टि की वैज्ञानिकता को सूचित करता है।

उन्नीसवीं शती में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का प्रवर्त्तन एवं विस्तार हुआ, जिसके अग्रगामी नेताओं में वर्ड्सवर्थ, कालरिज और शैले का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने साहित्य के क्षेत्र में रूढिवादिता, शास्त्रवादिता, नियमबद्धता विचारात्मकता एवं पूर्वाभ्यास की पद्धति का विरोध करते हुए नवीनता, स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं सहजता की प्रतिष्ठा की। वर्ड्सवर्थ ने लोक भाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार किये जाने का समर्थन करते हुए दोनों के अन्तर को अस्वाभाविक एवं घातक सिद्ध किया। उन्होंने काव्य को अभ्यास एवं कौशल द्वारा रचित न मानकर शान्त क्षणों के सहज भावोद्रेक के रूप में रचित स्वीकार किया। कवि के लिए शिक्षा, नैतिकता एवं उपदेश देने के बंधन को उन्होंने अनुचित बताते हुए आनन्द को ही काव्य का मूल लक्ष्य स्वीकार किया। इसी प्रकार कॉलरिज ने कविता का विरोध गद्य से न मान कर विज्ञान से माना। काव्य मौलिक रचना नहीं अपितु अनुकृति है—इस स्थापना पर कुठाराघात करते हुए उन्होंने कल्पना सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की जिससे प्रमाणित हो जाता है कि कल्पनाजन्य कृति होने के कारण काव्य को नूतन सृष्टि के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। शैले ने भी वर्ड्सवर्थ एवं कालरिज के सिद्धान्तों का समर्थन पूरी शक्ति से किया। अस्तु, परंपरागत मान्यताओं में परिवर्तन एवं संशोधन करने की दृष्टि से स्वच्छन्दतावादी काव्य-चिन्तकों का बहुत अधिक महत्त्व है।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में कुछ ऐसे विचारकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अति स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करते हुए स्वच्छन्दता, वैयक्तिकता एवं

---

१४. पश्श्चात्य काव्य-शास्त्र की परंपरा, पृ० १३५-१३६।

आनन्दवादिता के स्थान पर पुनः मर्यादा, सामाजिकता एवं उपयोगिता को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया—इनमें मैथ्यू आर्नल्ड, रस्किन, तॉलस्तॉय आदि प्रमुख थे। आर्नल्ड ने साहित्य को जीवन की आलोचना के रूप में स्वीकार करते हुए नैतिक मूल्यों एवं मानव-हित को काव्य के लिए श्रेयस्कर सिद्ध किया। उन्होंने काव्य की विषय-वस्तु के रूप मे भी उदात्त कार्यों एवं चिरन्तन भावनाओं को अपनाये जाने का समर्थन करते हुए लिखा—"समस्त राष्ट्रों में सदा-सर्वदा काव्य के शाश्वत विषय क्या रहे हैं ?—कार्य-व्यापार, मानव के कार्य-व्यापार। उनमें एक निहित रोचकता होती है........। यदि कवि समझता है कि सब-कुछ उसी की शक्ति में है कि वह अपनी प्रतिपादन-कला से किसी मूलतः निकृष्ट-कार्य व्यापार को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार के समान आनन्दायक बना सकता है तो उसका यह विचार मिथ्या है।........अतः सर्व प्रथम तो कवि को उत्कृष्ट कार्य-व्यापार का चयन कर लेना चाहिए और सबसे उत्कृष्ट कार्य-व्यापार कौन से होते हैं ? निश्चय ही वे जो मानव के सहज संस्कारों को सबसे अधिक आन्दोलित करें—उन मूलवर्ती भावनाओं को (आन्दोलित करें) जिनका जातीय मानस में स्थायीवास होता है और जो काल-निरपेक्ष होती हैं। ये भावनाएँ स्थायी और परिवर्तनशील होती हैं और इनके अनु-रंजन के साधन भी स्थायी और अपरिवर्तनशील होते हैं।"[१५] आर्नल्ड की ही भाँति रस्किन और तॉलसतॉय ने भी कला और साहित्य को जीवन के उच्चादर्शों से सम्बन्धित किया। जहाँ रस्किन ने कला को आध्यात्मिक एवं नैतिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति के एक पवित्र माध्यम का रूप दिया, वहाँ तॉलसतॉय ने उसे हमारी उदात्त भावनाओं के उद्वेलन की शक्ति से युक्त सिद्ध किया। अस्तु, इन आचार्यों ने काव्य की लोक-हितवादी दृष्टिकोण से सुन्दर व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं।

बीसवीं शताब्दी का काव्य-शास्त्र विभिन्न वादों एवं बहुमुखी प्रवृत्तियों से ग्रसित रहा है। इनमें मुख्यतः कलावाद, अभिव्यंजनावाद, प्रतीकवाद, बिम्बवाद, मनोविश्ले-षणात्मक विचार-धारा, समाजवादी या प्रगतिवादी विचार-धारा आदि उल्लेखनीय हैं। इन वादों एवं प्रवृत्तियों के उन्नायकों ने एकांगी दृष्टिकोण से साहित्य की विभिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं जो परस्पर-विरोधी हैं। उनसे साहित्य का स्वरूप स्पष्ट कम हुआ है, उसके सम्बन्ध मिथ्या धारणाओं एवं भ्रान्तियों का प्रचार अधिक हुआ है। इन नाना मत-मतान्तरों के कारण आज समीक्षा के क्षेत्र में अराजकता की सी स्थिति उत्पन्न हो गई है—जिस तत्त्व को एक गुण मानता है उसी को दूसरा दोष मानता है ! ऐसी परिस्थिति में आई० ए० रिचर्ड्स, हरबर्ट रीड, एफ० एल० ल्युकस जैसे विद्वानों ने साहित्य-शास्त्र को विज्ञान एवं मनोविज्ञान के आधार पर व्यवस्थित रूप देने का

१५. पाश्चात्य काव्म-शास्त्र की परंपरा, पृ० १६४।

प्रयास किया है, किन्तु इस क्षेत्र में अभी बहुत कार्य बाकी है। श्री हरबर्ट डिंगले तथा उनके अन्य कई साथियों ने साहित्य-समीक्षा को वैज्ञानिक रूप देने का आन्दोलन चलाया है जो वर्तमान परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल है। वस्तुतः आज साहित्य-शास्त्र को देश-काल की संकीर्ण सीमाओं से मुक्त करके व्यापक वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। ऐसा होने पर ही साहित्य-मूल्यों की पुनर्स्थापना एवं साहित्यिक एवं असाहित्यिक तत्त्वों का निर्णय सम्यक् रूप में किया जा सकेगा। प्रस्तुत अध्ययन भी इसी दिशा में किया गया एक प्रारम्भिक प्रयास है।

परिशिष्ट घ—

सौन्दर्य-शास्त्र : संक्षिप्त परिचय

'सौन्दर्य-शास्त्र' आंग्ल भाषा के 'एस्थेटिक्स' (Aesthetics) के पर्यायवाची के रूप में प्रचलित है तथा स्वयं 'एस्थेटिक्स' का भी मूलाधार एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ होता है—'एन्द्रिय बोध सम्बन्धी या संवेदना सम्बन्धी'। इस दृष्टि से 'सौन्दर्य-शास्त्र' शब्द 'एस्थेटिक्स' का शुद्ध पर्याय नहीं है क्योंकि संवेदनाओं का क्षेत्र सौन्दर्यनुभूति के क्षेत्र से बहुत अधिक व्यापक होता है तथा बहुत सी संवेदनाएँ सौन्दर्यानुभूति के सर्वथा प्रतिकूल भी होती है। ऐसी स्थिति मे यह विचारणीय है कि 'एस्थेटिक्स' के पर्यायवाची के रूप में इस शब्द का प्रयोग क्यों किया जाता है तथा ऐसा करना कहाँ तक उचित है ?

यदि हम 'एस्थेटिक्स' का इतिहास देखें तो पता चलेगा कि अठारहवी शताब्दी से पूर्व इस नाम के किसी शास्त्र-विशेष का अस्तित्त्व कही भी नहीं था। इस नाम से एक नये एवं स्वतंत्र शास्त्र की स्थापना करने का श्रेय जर्मन विद्वान् बामगार्टन (१७१४-१७६२ ई०) को है। उनसे पूर्व सौन्दर्य की विवेचना दर्शन-शास्त्र के अन्तर्गत ही होती थी, किन्तु दर्शन के क्षेत्र में सत्य को सौन्दर्य से अधिक महत्त्व दिया जाता था। बामगार्टन से पूर्व प्रसिद्ध दर्शनवेत्ता स्पिनोजा ने ज्ञान के दो भेद करते हुए, एक को तर्क-सम्मत ज्ञान एवं दूसरे को ऐन्द्रिय ज्ञान कहा। इनमें से प्रथम का सम्बन्ध सत्य से है जबकि दूसरे का सौन्दर्य से। स्पाइनोजा तथा उसके अनुयायियों ने ज्ञान के इस दूसरे भेद—सौन्दर्य को 'अस्पष्ट,' 'अनिश्चित ; 'धुँधला आदि बताते हुए इसका तिरस्कार किया जो कि बामगा न जैसे सौन्दर्योपासकों को सह्य नहीं था। अतः सौन्दर्य को उचित महत्त्व प्रदान करने के लक्ष्य से ही एक स्वतंत्र विषय की स्थापना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया। यह प्रस्ताव उस युग के सौन्दर्य-चिन्तकों के लिए इतना अधिक मनोनुकूल था कि उन्होंने इस नाम के औचित्य पर अधिक विचार किये बिना ही तुरन्त स्वीकार कर लिया—और इस प्रकार एक नये विषय की स्थापना होगई।

बामगार्टन के मतानुसार एस्थेटिक्स 'ऐन्द्रिय बोध का विज्ञान' है जिसमें संवेदनाओं का विश्लेषण होता है ।[१] उसका सम्बन्ध 'अस्पष्ट ज्ञान' से है—'अस्पष्ट ज्ञान, वह ज्ञान है जो संवेदनाओ के रूप में प्राप्त होता है, जिसे शब्दों में ठीक-ठीक प्रस्तुत करना संभव नहीं ।'[२] यद्यपि यह परिभाषा नामकरण के अनुरूप ही है किन्तु वास्तव में 'एस्थेटिक्स' के अन्तर्गत सौन्दर्य सम्बन्धी संवेदनाओं का ही विवेचन एवं विश्लेषण अधिक किया जाता है—शेष प्रकार की अनुभूतियों एवं संवेदनाओं को प्रायः उसके क्षेत्र से बाहर रखा जाता है । इसी तथ्य को देखते हुए आगे चलकर हीगल ने स्पष्ट किया कि "एस्थेटिक्स केवल ललित कलाओं का दर्शन मात्र है । ललित कलाओं का भी सामान्य गुण सौन्दर्य माना जाता है तथा इस शास्त्र की विवेचना करने वाले विद्वान् प्रायः सौन्दर्य-मीमांसा को ही अपना लक्ष्य मानकर चलते रहे हैं ।"[३] इससे भी यह समझा जाने लगा कि इस शास्त्र का मुख्य विषय सौन्दर्य ही है । एस्थेटिक्स के इसी विकसित अर्थ को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध सौन्दर्य-शास्त्री श्री बोसाँके महोदय ने स्पष्ट रूप मे स्वीकार किया था—'एस्थेटिक्स का तात्पर्य है सौन्दर्य-दर्शन ।'[४] अस्तु, अब सामान्यतः बोसाँके के मत को ही मान्यता दी जाती है । उदाहरण के लिए हम यहाँ एक नवीनतम मत उद्धृत कर सकते है, जिसके अनुसार "ऐस्थेटिक्स ज्ञान की वह शाखा है जिसका मुख्य कार्य यह खोजना है कि सौन्दर्य का वास्तविक अर्थ क्या होता है । इसका सम्बन्ध सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं के तर्क-बद्ध विवेचन, कलाओं के विशिष्ट तत्त्वो के विश्लेषण एव सौन्दर्य सम्बन्धी समस्त निर्णयो के लिए उपर्युक्त सिद्धान्तो के निर्धारण से है ।"[५] इससे स्पष्ट है कि 'एस्थेटिक्स' शब्द का मूल अर्थ यद्यपि भिन्न है, किन्तु प्रचलित अर्थ में उसे 'सौन्दर्य-शास्त्र' का ही पर्यायवाची मानना उचित है ।

(२) **सौन्दर्य-शास्त्र का क्षेत्र**—'सौन्दर्य-शास्त्र' नाम से यह धारणा उत्पन्न होती है कि इसके क्षेत्र मे सभी प्रकार का सौन्दर्य आता होगा किन्तु वस्तुतः ऐसा नही है । निःसन्देह सौन्दर्य-शास्त्र प्रकृति और शिल्प के विभिन्न उपादानों में सौन्दर्य की सत्ता स्वीकार करता है किन्तु वह अपना सम्बन्ध केवल ललित कलाओं तक ही सीमित रखता है । सौन्दर्य-शास्त्रियो ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप में स्वीकार

---

1. History of Aesthetic : Bosanquet, Page 183-
2. Wcstern Aesthetics : K. C. Pandey, Page 287.
3. The same, Page 2.
4. History of Aesthetic : Bosanquet, Page 3.
5. "Aesthetic is that branch of Knowledge whose function is t investigate what to be asserted when we write or talk correctl about beauty. It is concerned logically to elucidate the notio of beauty as the distinguishing feature of works of art and t propound th valid principles which underlie all aesthetic judge ments."—Harold osborne : Aesthetics & Criticism, Page 24.

करते हुए इसके पक्ष में अनेक तर्क दिये हैं। एक तो उनका कहना है कि प्रकृति के विभिन्न रूपों और क्रिया-कलापों का अध्ययन करना सौन्दर्य-शास्त्र का नहीं—भौतिक-विज्ञान का कार्य है। दूसरे, सौन्दर्य-शास्त्र की परिधि में केवल वे ही रूप आ सकते है जो मानव के द्वारा अनुभूत होकर लिपिबद्ध रूप में सुलभ हो गये हों। दूसरे शब्दो, में सौन्दर्य-शास्त्र प्रकृति एवं बाह्य जगत् का अध्ययन सीधे रूप में और उनके प्रकृत रूप में न करके कलाओ के माध्यम से उनके संवेदित रूप का ही अध्ययन करता है। सौन्दर्य-शास्त्र के आधार-भूत ग्रन्थों को देखने से भी यह स्पष्ट है कि उनमें सौन्दर्य के नाम पर विभिन्न कलाओ की ही—या कलागत सौन्दर्य की ही मीमांसा हुई। यदि उनमें प्रकृति के सौन्दर्य की कही चर्चा हुई भी है तो वह कलागत सौन्दर्य के प्रसंग मे—उसी की मीमांसा के साधन-रूप मे हुई है। अतः इस दृष्टि से सौन्दर्य-शास्त्र—केवल कला-शास्त्र ही है, और कलाओं में भी केवल ललित कलाओ से ही उसका सम्बन्ध है। इतना ही नही, ललित कलाओ के भी केवल एक ही पक्ष—सैद्धान्तिक या दार्शनिक पक्ष तक ही उसका सम्बन्ध माना जाता रहा है। कलाओं के व्यावहारिक पक्ष—उनकी रचना के विधि-विधानों एव तत्सम्बन्धी अन्य विशिष्ट नियमो—से सौन्दर्य-शास्त्र को सर्वथा असंपृक्त बताया जाता रहा है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बोसाँके महोदय ने लिखा था—'सौन्दर्य-शास्त्र दर्शन की एक शाखा है, उसकी सत्ता ज्ञान के निमित्त है, उससे व्यावहारिक पथ-प्रदर्शन की आशा नही रखनी चाहिए।' अस्तु, सही अर्थ में सौन्दर्य-शास्त्र को, 'सौन्दर्य-शास्त्र' भी नही, 'कला-शास्त्र' भी नहीं, अपितु 'कला-दर्शन' कहना चाहिए।

बीसवी शती तक आते-जाते 'सौन्दर्य-शास्त्र' के भाग्य ने पुनः पलटा खाया। जब तक यह शास्त्र दार्शनिकों के आश्रय में था 'दर्शन' बना रहा किन्तु अब वैज्ञानिको की कृपा-दृष्टि से पुनः इसका रूप-परिवर्तन होने लग गया है। दार्शनिक लोग कलाओ के सामान्य तत्त्वों पर विचार करते थे, जबकि इस शती के विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टि से विभिन्न कलाओं के विभिन्न पक्षों का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण करने मे संलग्न है। समन्वयात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर अग्रसर होने के कारण पुनः उसका रूप शास्त्रीय एवं व्यावहारिक होता जा रहा है, अब वह केवल ज्ञान-पिपासा की शान्ति का ही साधन-मात्र नही, कलाओं की सृष्टि, व्याख्या, आलोचना एवं अनुभूति की प्रक्रियाओं का भी सहयोगी बन गया है। दूसरी ओर, अब सौन्दर्य का अर्थ सौन्दर्य न रहकर—'मूल्य' हो गया है, अतः नये दृष्टिकोण से इसे 'मूल्यों की मीमासा करने वाला विज्ञान' भी समझा जाने लगा है। अस्तु, अब तक की प्रगति के आधार पर इसे 'सौन्दर्य-दर्शन' 'सौन्दर्य-शास्त्र' एवं 'सौन्दर्य-विज्ञान'—तीनों की संज्ञा दी जा सकती है।

(३) **सौन्दर्य-शास्त्र का विकास-क्रम**—यद्यपि 'सौन्दर्य-शास्त्र' की स्थापना अठारहवी शती में ही हुई है किन्तु इसके अन्तर्गत उन सब पूर्ववर्ती दार्शनिकों, साहित्या-

चार्यों एवं कला-मीमांसकों को भी स्थान दिया जाता है जिन्होंने किसी न किसी रूप में कलागत सौन्दर्य की समस्या पर विचार किया है। यही कारण है कि सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास यूनानी चिन्तन के आरम्भ से—सुकरात और प्लेटो के भी पूर्व युग से प्रारम्भ होता है। किसी नये विषय को भी परंपरागत चिन्तन से सम्बद्ध करके उसे किस प्रकार व्यापक बनाया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सौन्दर्य-शास्त्र का इतिहास है। सौन्दर्य-शास्त्र के लगभग पच्चीस सौ वर्षों के इतिहास में सहस्राधिक विद्वानों के विभिन्न मंतव्यों का विवेचन उपलब्ध होता है। इन सबका परिचय यहाँ दिया जाना संभव नहीं है, अतः हम यहाँ सौन्दर्य-शास्त्र के कुछ प्रमुख वादों की ही संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत करते है।

(४) **सौन्दर्य-शास्त्र के प्रमुखवाद**—सौन्दर्य-शास्त्र की मूल समस्या सौन्दर्य के स्वरूप की व्याख्या करना रही है। इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किये है जिन्हें हम मुख्यतः इन सात वर्गों में विभाजित कर सकते है—(१) अध्यात्मवादी दृष्टिकोण (२) उपयोगिता वादी दृष्टिकोण (३) बुद्धिवादी दृष्टिकोण (४) भाववादी दृष्टिकोण (५) रूपवादी दृष्टिकोण (६) साहचर्यवादी दृष्टिकोण (७) मूल्य वादी दृष्टिकोण। यहाँ इनका क्रमशः परिचय दिया जाता है।[६]

(क) अध्यात्मवादी दृष्टिकोण

सौन्दर्य की अध्यात्मवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करने वाले पाश्चात्य विद्वानो में से प्लेटो, प्लाटिनस, हीगल आदि का नाम उल्लेखनीय है। प्लेटो ने विश्व के समस्त सौन्दर्य को मूलत. ईश्वर का रूप बताते हुए सौन्दर्यानुभूति को एक दिव्य अध्यात्म-साधना के समकक्ष महत्त्व प्रदान किया। उनके विचार से विभिन्न शास्त्रों के गंभीर अध्ययन एवं मनन से विकसित एक विशेष प्रकार की मानसिक शक्ति से ही हम सौन्दर्य का बोध कर सकते है। यद्यपि सौन्दर्य-बोध की यह अपूर्व क्षमता तर्क-बद्ध अध्ययन से ही उदित होती है फिर भी वह तर्क से शून्य होती है—सौन्दर्य तर्क गम्य नही, अनुभूति गम्य है। अतः अन्य विषयो की तरह से सौन्दर्यानुभूति को

---

६. यह परिचय मुख्यतः इन ग्रन्थों के आधार पर दिया जा रहा है—

1. A history of Aesthetics : Bosanquet.
2. A history of Esthetics : Gilbert & Kuhn.
3. Western Aesthetics : K. C. Pandey.
4. The theory of Beauty : E. F. carritt.
5. An Introduction to Aesthetics : E. F. Carritt.
6. An Introduction to Aesthetics : Hunter Mead.
7. The quest for Beauty : J. L. Jarrett.
8. The sense of Beauty : George Santayana.
9. The Principles of Art : R. G. Collingwood.

हम शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते। सौन्दर्यानुभूति के अनन्तर द्रष्टा का हृदय इस प्रकार ज्योतित हो उठता है कि उसे अखिल जगत् का सौन्दर्य किसी एक ही सौन्दर्य-पुंज से संबंधित दिखाई देने लगता है और विभिन्न सुन्दर वस्तुओं का स्थूल भेद उसके लिए नगण्य हो जाता है।" इस प्रकार प्लेटो ने सौन्दर्य के नाम पर सूक्ष्म-सौन्दर्य की मीमांसा की है, जिसका सम्बन्ध केवल रहस्यवादियों से ही है। सौन्दर्य-शास्त्र का विषय अलौकिक सौन्दर्य नही—लौकिक सौन्दर्य है, जिससे प्लेटो के विवेचन का बहुत कम सम्बन्ध है।

आगे चलकर प्लॉटिनस (२०४-२६९ ई०) ने प्लेटो की ही विचार-धारा को आगे बढाते हुए ईश्वर को ही सौन्दर्य का मूलाधार घोषित किया। भौतिक पदार्थों में हमारी आत्मा जिस सौन्दर्य का अन्वेषण करती है वह वस्तुतः उसके पूर्व संस्कारों का ही परिणाम है। लौकिक स्तर पर आकर हमारी आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है—या यों कहिए कि उस महान् सौन्दर्य-पुंज से वह दूर आ जाती है, फिर भी वह अपने उस पुरातन अनुभव को सर्वथा भूल नही पाती ; उस ज्योतित-स्वरूप के पुनः साक्षात्कार के लिये ही वह इस जीवन में भटकती रहती है। इस प्रकार ईश्वर के रूप की प्यास ही सौन्दर्य की प्यास है या सौन्दर्य की प्यास ही ईश्वर से मिलने की प्यास है। इस प्रकार प्लाटिनस सौन्दर्य का सम्बन्ध ईश्वर से स्थापित करते हुए बहुत कुछ प्लेटो का ही अनुसरण करता है किन्तु वह कला कृतियों की मीमांसा करते समय प्लेटो से भी एक कदम आगे बढ़ जाता है। प्लेटो ने जहाँ कलागत सौन्दर्य को हमारी वासनाओं का उभारने वाला मिथ्या सौन्दर्य बताकर उसका तिरस्कार किया था, वहाँ प्लाटिनस ने कलागत सौन्दर्य को भी आध्यात्मिक सौन्दर्य से ही सम्बन्धित करने का प्रयास किया। कला में सौन्दर्य का आधार उसके स्थूल उपकरणो एवं भौतिक तत्त्वो मे निहित नही है अपितु उस सूक्ष्म आत्मा में निहित है जिसे कलाकार प्रस्तुत करता है। दूसरे शब्दो में—मूर्त्ति या चित्र में कलाकार अपनी आत्मा को ढालता है और आत्मा का वही स्पर्श कला का सौन्दर्य है। मूर्त्ति को जो रूप कलाकार प्रदान करता है वही उसका सौन्दर्य है। दर्शकों या सामाजिकों के हृदय भी परस्पर आत्मिक एकता के सूत्र में गूँथे हुए हैं—अतः जब हम कला के रूप में कलाकार की आत्मा की छवि देखते है तो गद्-गद् हो उठते है। मृत व्यक्ति की अपेक्षा जीवित में अधिक सौन्दर्य होता है, उसका कारण भी यह आत्मिक सम्बन्ध ही है। अस्तु, प्ल टिनस सृष्टि और कलाओं के समस्त सौन्दर्य को इसी आत्मिक सम्बन्ध पर आधारित मानते हुए उसे परम-तत्त्व का ही रूप सिद्ध कर देता है।

आधुनिक युग में सौन्दर्य की पुनः अध्यात्मपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत करने वाले विचारकों में विल्हेन जोसेफ शिलिंग (१७७५-१८५४) एवं हीगल (१७७०-१८३१) का नाम उल्लेखनीय है। शिलिंग ने सृष्टि एवं कलाओं के सौन्दर्य को ईश्वर के रूप

से अभिन्न बताया। उसके विचार से स्वयं सृष्टि भी ईश्वर की एक कला है। कलाओं में भी शाश्वत नियमों एवं चिरन्तन सत्य का ही चित्रण होता है तथा सत्य भी ईश्वर का एक रूप है। इस प्रकार कलाओं का ईश्वर से गहरा सम्बन्ध होता है, इतना ही नहीं, ईश्वर ही कलाओं का प्रेरक एव तात्कालिक कारण है।

जार्ज फ्रेडरिख विल्हेम हीगल (१७७०-१८३१) ने दर्शन की द्वन्द्वात्मक-पद्धति के आधार पर सौन्दर्य की मीमांसा की। उसके विचार से परम तत्त्व के बोध के तीन साधन हैं— कला, धर्म एवं दर्शन। कलाओं मे हम ऐन्द्रिक माध्यम से ईश्वर की अनुभूति प्राप्त करते है। उनके विचार से कला और सौन्दर्य में परस्पर अन्तर है— कला यदि ईश्वरानुभूति का माध्यम मात्र है जबकि सौन्दर्य स्वतः ही ईश्वर का रूप है। उसके शब्दों मे "The sensuous object through which the absolute shines is beautiful. Beautiful object addresses itself to the senses as well as the mind" जिस ऐन्द्रिक वस्तु के माध्यम से परमतत्त्व प्रकाशित होता है वही सुन्दर है। सुन्दर वस्तु स्वतः ही हमारी इन्द्रियो एव मस्तिष्क को आकर्षित कर लेती है। किन्तु यहाँ यह ध्यान रहे, हीगल सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा केवल कला मे ही मानता है। उसके विचार से प्रकृति भी सौन्दर्य की ओर अग्रसर है, जबकि उसकी उपलब्धि कला मे ही होती है। अतः कहना चाहिए कि हीगल के अनुसार कलागत सौन्दर्य मे ही परमतत्त्व की सत्ता होती है।

(ख) उपयोगितावादी दृष्टिकोण

प्राचीन एव आधुनिक युग के अनेक विचारको ने सौन्दर्य की समाजपरक व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हुए उसे नैतिकता एवं उपयोगिता से सम्बद्ध करने का प्रयास किया। यूनानी दार्शनिक सुकरात के विचार से किसी वस्तु की उपयोगिता मे ही उसका सौन्दर्य निहित है, इसीलिए उसने कहा था—"एक गोबर से भरी हुई टोकरी भी सुन्दर कही जा सकती है यदि उसका कोई उपयोग हो, अन्यथा उपयोग की दृष्टि से अपूर्ण होने पर एक चमचमाती हुई स्वर्ण-घटित ढाल भी असुन्दर मानी जावेगी।" आगे चलकर अठारहवी, उन्नीसवी शती मे भी अनेक विचारको ने भी सौन्दर्य को सामाजिक हित से सम्बद्ध किया। एडमंड बर्क (१७२९-१७९७) ने सौन्दर्य की परिभाषा करते हुए कहा "I call beauty a social quality" अर्थात् 'मैं सौन्दर्य को एक सामाजिक गुण मानता हूँ। इतना ही नहीं, उसने सौन्दर्य का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसे हमारी सामाजिक वृत्तियो पर आधारित सिद्ध किया।' उसके विचार से हम सौन्दर्य का आस्वादन सहानुभूति, अनुकरण एवं आत्म-विस्तार की मनोवृत्तियों से करते हैं और ये तीनों ही प्रवृत्तियाँ सामाजिक वृत्ति (Social Instinct पर आधारित हैं। जान रस्किन (१८१९-१९००) ने एक ओर तो कलागत सौन्दर्य को ईश्वर के दिव्यगुणों से सम्बन्धित माना, तो दूसरी ओर उसने यह भी

स्पष्ट किया कि ईश्वर के गुण नैतिक गुण हैं—अतः नैतिकता को ही सौन्दर्य की आधार-शिला माननी चाहिए।

विक्टर कजन (१७९२-१८६७), जाफ़ाय १७९६-१८४२) लापराडे (१८१२-१८८३), कामते (१७८९-१८५७) आदि ने कलाओं को अकेले व्यक्ति की सृष्टि न मानकर समाज की उपज मानते हुए कलागत सौन्दर्य को सामाजिक दृष्टिकोण की देन के रूप में स्वीकार किया।

काडवेल ने साम्यवादी दृष्टिकोण से सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए प्रतिपादित किया कि देश और काल-भेद के अनुसार सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओ मे भी परिवर्तन होता रहता है, अतः कहना चाहिए कि सौन्दर्य सामाजिक परिस्थितियो एवं दृष्टिकोण पर आधारित होता है। यही कारण है कि विभिन्न समाज की सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाएँ विभिन्न होती है।

(ग) बुद्धिवादी दृष्टिकोण

कुछ विद्वानो ने सौन्दर्य को बुद्धि, विचार या सत्य के प्रतिरूप के रूप मे भी ग्रहण किया है। सैंट थामस (१२२७-१२७७) के विचार से "ऐन्द्रिक माध्यम से तर्क की अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य है।" इसी विचार को आगे बढाते हुए लॉक (१६३२-१७०४) ने प्रतिपादित किया कि सौन्दर्य वह मिश्रित विचार है जो कि मिश्रित ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। उसके दृष्टिकोण के अनुसार विचार दो प्रकार के होते है—सरल और मिश्रित। इन्द्रियो के माध्यम से प्राप्त विचार सरल विचार होते हैं जबकि प्राप्त एव अप्राप्त सरल विचारो के पारस्परिक संयोग से उद्भूत विचार मिश्रित विचार होते है। इस प्रकार सभी मिश्रित विचार सरल विचारो से ही निर्मित होते है। इन मिश्रित विचारों की भी तीन श्रेणियाँ की गई है—(१) रूप (Modes) (२) वस्तु (Substance) (३) सम्बन्ध। रूप सूचक विचारो के भी दो उपभेद किये गये है—सरल रूप एव मिश्रित रूप। यह 'मिश्रित रूप' ही सौन्दर्य है। इस प्रकार लॉक के विचार से सौन्दर्य एक मिश्रित विचार है जो कि मिश्रित रूप से उत्पन्न होता है—या यो कहिए कि वह विभिन्न प्रकार के काल्पनिक विचारों के मेल से उत्पन्न होता है। कलागत सौन्दर्य न तो किसी बाह्य वस्तु के सदृश होता है और न ही सर्वथा मौलिक सृष्टि।

कांट (१७२४-१८०४) ने बुद्धि के तीन रूप बताये—(१) शुद्ध बुद्धि (२) व्यावहारिक बुद्धि (३) निर्णयात्मक बुद्धि। शुद्ध बुद्धि से जहाँ सत् का ज्ञान होता है, वहाँ व्यावहारिक बुद्धि हमें औचित्य की ओर ले जाती है। शुद्ध बुद्धि 'क्या है ?' का उत्तर देती है तो व्यावहारिक बुद्धि 'क्या होना चाहिए ?' का। निर्णयात्मक बुद्धि इन दोनों से समन्वित होती है ; सौन्दर्य का सम्बन्ध इसी से है। इस प्रकार सौन्दर्य की मीमाँसा करते हुए कांट इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि "स्वच्छन्द कल्पना

द्वारा प्रस्तुत वह विचार जो और अधिक चिन्तन को प्रवाहित करता है—सौन्दर्य है।"

(घ) भाववादी दृष्टिकोण

सौन्दर्य-शास्त्र के क्षेत्र में भावपरक दृष्टिकोण को लेकर चलने वाले विद्वानों की संख्या बहुत अधिक रही है—किन्तु इन्होंने प्रायः कलागत सौन्दर्य को ध्यान में रख कर ही अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। इन भाव-परक व्याख्याओं को भी दृष्टिकोण-भेद के आधार पर चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(१) भावोद्दीप्ति वादी दृष्टिकोण (२) भावालम्बन वादी दृष्टिकोण (३) भावाभिव्यक्ति वादी दृष्टिकोण (४) भाव-प्रेषण वादी दृष्टिकोश। इनमे से प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय यहाँ क्रमशः प्रस्तुत किया जाता है।

(१) **भावोद्दीप्तिवादी दृष्टिकोण**—सत्रहवीं-अठाहरवी शती में डकार्टेज, एडिसन ह्यूम—आदि विद्वानों ने भावोद्दीप्ति वादी दृष्टिकोण से सौन्दर्य की व्याख्या की। डेकार्टेज (१५९६-१६५०) ने कलागत सौन्दर्य का सम्बन्ध भाव से स्थापित करते हुए सौन्दर्यानुभूति को भाव समन्वित बौद्धिक आनन्द के रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार एडिसन (१६७२-१७१९) महोदय के विचार से भी कोई कृति जितनी गहराई से हमारे भावों को उत्तेजित करने में सफल होगी वह उतनी ही अधिक सुन्दर मानी जावेगी। ह्यूम (१७११-१७७६) ने कलागत सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए उसके तीन पक्षों की विवेचना की—(१) मानव-प्रकृति (२) संस्कार एवं प्रथाएँ (३) मानसिक परिवर्तन। अर्थात् किसी वस्तु के सौन्दर्य का निर्णय करने में हमारी मानवी-प्रकृति, हमारे संस्कारों तथा उसके प्रभाव से होने वाले मानसिक परिवर्तनों का गहरा योग रहता है। कला-कृतियो का निर्माण या संवटन इस प्रकार होता है कि जिससे वे हमें प्रसन्नता और संतोष प्रदान कर सकें। अस्तु, भावोद्दीप्ति वाद के अनुसार कला-सौन्दर्य का मूलाधार उसकी भावोद्दीप्ति की क्षमता में ही निहित है या यों कहिए कि कला के वे तत्त्व जो भावोद्दीपन में सहायक होते है—कलागत सौन्दर्य के घटक है।

(२) **भावालम्बन वादी दृष्टिकोण**—इस वाद के उन्नायको—हक्सन, बर्क, लबस्सु, हरमन लात्ज, सैंतायना आदि ने कलागत सौन्दर्य के लिए केवल भावोद्दीप्ति को ही आवश्यक नही माना अपितु स्वय कला में भी भावों का चित्रण अपेक्षित माना। ध्यान रहे कई बार कुछ तथ्य या विचार भी पाठक के लिए भावोत्तेजक सिद्ध हो सकते है किन्तु इस वाद के मानने वाले कला मे भावो का चित्रण अपेक्षित मानते है।

हक्सन (१६९४-१७४७) महोदय ने कलागत सौन्दर्य के आस्वादन के सम्बन्ध में दो नये महत्वपूर्ण तत्त्वों—निःस्वार्थ भावना और अन्तर्भावना—का भी उद्घाटन

किया। निःस्वार्थभावना से उनका तात्पर्य यह है कि हम सौन्दर्य का आस्वादन किसी व्यक्तिगत हानि-लाभ के विचार से मुक्त रह कर करते हैं। पाठक या सामाजिक जिस शक्ति के कारण कला के सौन्दर्य का आस्वादन करता है उसे ही इन्होंने अन्तर्भावना (Inner-sense) का नाम दिया है। यही शक्ति कवि, काव्य और पाठक—तीनों के प्रसंग में विभिन्न नामों से पुकारी जाती है। कवि की अन्तर्भावना को प्रतिभा, काव्य में प्रतिबिम्बित अन्तर्भावना को भावना एवं पाठक की अन्तर्भावना को रुचि कहा जाता है। बर्क (१७२६-१७६७) ने हक्सन के रुचि सम्बन्धी विवेचन को और आगे बढाते हुए उसे इन्द्रियो, कल्पना और बुद्धि से समन्वित सिद्ध किया।

जर्मन विद्वान हरमन लात्ज (१८१७-१८८१) ने कलागत सौन्दर्य के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में बताया कि वास्तविक सौन्दर्य आत्मा को आनन्द प्रदान करने वाले भाव के अतिरिक्त और कुछ नही है। आगे चलकर जार्ज संतायना ने अपनी पुस्तक 'The Sense of beauty' में भी विस्तार से प्रतिपादित किया कि "सौन्दर्य एक भावात्मक तत्त्व है जिसका स्वरूप प्रसन्नतादायक है, किन्तु उसे हम वस्तुओं का गुण समझते हैं।" इस प्रकार इस वर्ग के विद्वानों ने कलागत सौन्दर्य का आधार भावों के चित्रण या प्रस्तुतीकरण को ही माना।

(३) **भावाभिव्यक्तिवादी दृष्टिकोण**—क्रोचे के अभिव्यक्तिवाद से प्रेरित होकर अनेक विचारकों ने भावाभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की, जिनमें कालिंग वुड, कैरिट प्रमुख रूप से उल्लेखनीय है। कालिंगवुड ने सर्व प्रथम भाव-सिद्धान्त के परम्परागत रूपों का खंडन करते हुए भावाभिव्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा की। आगे चलकर कैरिट महोदय ने भी कला का सौन्दर्य भावाभिव्यक्ति में ही सिद्ध किया।

(४) **भाव-संप्रेषणवादी दृष्टिकोण**—टाल्सटाय, एव रिचर्ड्स ने कला के सौन्दर्य की सत्ता भावो के सप्रेषण मे स्वीकार की। टाल्सटाय ने कलागत सौन्दर्य के सबसे बड़ी कसौटी की व्याख्या करते हुए कहा "यदि एक व्यक्ति सरलता पूर्वक अपने दृष्टिकोण को बिना परिवर्तित किए किसी रचना को देखकर या सुनकर या पढ़कर एक ऐसी मानसिक स्थिति का अनुभव करता है जिसमें कलाकार एवं अन्य सामाजिको के साथ उसका तादात्म्य हो तो अवश्य ही वह रचना कला-कृति है, अन्यथा किसी रचना मे भले ही कितना यथातथ्य वर्णन हो, कितनी ही वह प्रभावशाली हो और चाहे कितनी ही मनोरजक हो, यदि वह उक्त आत्मिक एकता एवं आनन्द के भाव को जागृत नही करती तो वह कला नहीं कही जा सकती।" इस प्रकार टाल्सटाय ने भावात्मक तादात्म्य में ही कला के समस्त सौन्दर्य का आस्तिव माना है। इसी भावात्मक तादात्म्य को आई० ए० रिचर्ड्स ने 'भावात्मक संप्रेषण' का नाम देते हुए अपना सप्रेषण सिद्धान्त (Theory of communication) प्रस्तुत किया है। हमारे विचार से दोनो ने मूलतः काव्य के माध्यम से भावों के

संप्रेषण को स्वीकार किया है, अतः उन्हें एक ही वर्ग—भाव-संप्रेषणवाद—में स्थान दिया जा सकता है।

(ङ) रूपवादी दृष्टिकोण

विभिन्न विद्वानों ने वस्तुओं के विभिन्न रूपगत तत्त्वों को सौन्दर्य का आधार मानकर अपने विचार प्रस्तुत किये है। प्राचीन विद्वान् अरस्तू ने सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए उसे तीन तत्त्वों पर आधारित माना है—(१) सम्मात्रा (Symmetry) (२) व्यवस्थित क्रम (Orderly arrangement) (३) निश्चित आकार (Certain magnitude)। होगार्थ ने अपने ग्रन्थ 'एनेलिसिस आफ् ब्यूटी' मे सौन्दर्य के छह उपादान स्थिर किये है –(१) वस्तु की उपयुक्तता (Fitness) (२) विभिन्नता (Variety) (३) सम्मात्रा (Symmetry) (४) स्पष्टता (Distinctiveness) (५) जटिलता (Intricacy) (६) विशालता (Magnitude)। बर्क महोदय ने अपने एक लेख में आकार-सूक्ष्मता, ममृणता, कोमलता, वर्ण-दीप्ति, शुद्धता आदि मे सौन्दर्य का अस्तित्व बताया तो दूसरी ओर कूसाज के विचार से सौन्दर्य का निवास वैचित्र्य, एकत्व, समता, व्यवस्था, अनुपात आदि गुणो मे है। बर्कले ने सम्मात्रा (Symmetry) और संतुलन (Proportion) मे सौन्दर्य का अस्तित्व माना।

आधुनिक युग में ही पार्कर ने कलागत रूप की व्याख्या करते हुए सामंजस्य, क्रम, अनुपात, आवयविक संगठन आदि तत्त्वो पर विशेष बल दिया है। इस प्रकार रूपवादियों ने विभिन्न रूपगत विशेषताओ मे ही सौन्दर्य का अस्तित्व सिद्ध किया है।

(च) साहचर्यवादी दृष्टिकोण

कतिपय विद्वानो ने सौन्दर्य का सम्बन्ध व्यक्ति की आदत, या संस्कार आदि में सिद्ध किया। पिअर बफियर के अनुसार प्रत्येक जाति के प्राणियों की सुन्दरता का एक-एक आदर्श होता है। जो बात सब जातियों की रूप-आकृति में सामान्य रूप से पाई जाती है वही उस जाति के सौन्दर्य का आदर्श हो जाता है। सर जे० रेनाल्डस ने भी बफियर के सिद्धान्तों से ही मिलता-जुलता आदत का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उनके विचारानुसार हमें जिन वस्तुओं को जिन रूपों में देखने की आदत पड़ गई, वही उस वस्तु का सौन्दर्य माना जाने लगा। हम मनुष्य के चेहरे पर तीखी नाक और पतले ओठो को सदा से देखते आये है अतः वे हमारे लिए सुन्दरता के आदर्श बन गये हैं; यदि मनुष्य जाति के चेहरे पर सदा से ही नाक न होती या उसका चेहरा गोल होने के स्थान पर चौकोर होता तो आज हम उसी में सौन्दर्य मानते। एलिसन ने साहचर्य-नियम के आधार पर सौन्दर्य की व्याख्या की। उनके विचार से हमारे मन पर आनन्द प्रदायी वस्तुओ के संस्कार संचित रहते हैं। किसी वस्तु के देखने पर उससे संस्कारों के रूप में संचित आनन्द जाग्रत

हो जाता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी प्राचीन दुर्ग को देखते हैं तो उस दुर्ग से सम्बन्ध रखने वाले कई प्राचीन युद्धों की स्मृति आ जाती है जिसके फल-स्वरूप हमें सौन्दर्य का बोध होता है। अस्तु इस वर्ग के विद्वानों के विचार से सौन्दर्य का अस्तित्व हमारे साहचर्यजन्य संस्कारो मे है।

(छ) मूल्यवादी दृष्टिकोण

आई० स० रिचर्ड्स, हंटरमीड, जैरिट्ट आदि विद्वानो ने सौन्दर्य की मूल्यपरक व्याख्या की है। इनके अनुसार किसी वस्तु का सौन्दर्य एक ऐसा मूल्य है (या मूल्य सम्बन्धी धारणा है) जो कि देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। किसी भी वस्तु के प्रति मूल्य सम्बन्धी दृष्टिकोण देश-काल के वातावरण, उसकी परिस्थितियो, संस्कार, शिक्षा आदि से प्रभावित होता है। रिचर्ड्स के अनुसार मूल्य का सम्बन्ध हमारी मूलभूत प्रवृत्तियो से होता है किन्तु ये प्रवृत्तियाँ भी देश-काल के अनुसार विकसित एव परिवर्तित होती रहती है। सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को मुख्यत: दो रूपो मे विभाजित कर सकते है—(१) रागात्मक एव (२) विरागात्मक। इन प्रवृत्तियो को स्वरूप की दृष्टि से इच्छा की पर्यायवाची माना जा सकता है। मानव-मन सभी प्रवृत्तियो को तुष्ट करना चाहता है, फलत: कुछ प्रवृत्तियों में परस्पर विरोध एवं संघर्ष भी होता है। हमारी एक प्रवृत्ति के कारण दूसरी प्रवृत्ति में व्याघात होता है किन्तु हमारा प्रयास यह रहता है कि हम अपनी प्रवृत्तियों को इस प्रकार संतुलित करे कि जिससे हमारी अधिकाधिक प्रवृत्तियाँ तुष्ट हो सकें। सामान्यत: अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए हम अपनी गौण प्रवृत्तियों की उपेक्षा भी कर देते है। इस प्रकार हम कह सकते है कि वह वस्तु मूल्यवान है जोकि हमारी एक प्रवृत्ति को—बिना किसी अन्य समान या अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति को निराश किए सतुष्ट करती है, या यो कहिए कि जो एक प्रवृत्ति को तो तुष्ट करती है किन्तु साथ ही उससे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को असतुष्ट नही करती। यहाँ एक प्रश्न है कि हमारी कौन सी प्रवृत्ति अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। और कौन सी गौण ? इसके उत्तर में रिचर्ड्स का विचार है कि जिस प्रवृत्ति की तुष्टि अन्य प्रवृत्तियो में अधिकाधिक संतुलन प्रस्तुत करती है तथा जिसकी तुष्टि से व्यक्ति की अधिकाधिक प्रवृत्तियाँ तुष्ट होती हैं—वही महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार मूल्य का आधार मानसिक प्रवृत्तियों की तुष्टि है।

जेरिट महोदय ने इन मूल्यों को तीन वर्गों में विभाजित किया है—(१) साधनात्मक मूल्य (Instrumental Value) (२) आंतरिक मूल्य (Intrinstic Value) (३) परम्परागत मूल्य (Inherent Value)। साधनात्मक मूल्य उन वस्तुओं से सम्बन्धित है जो कि स्वयं प्रसन्नतादायक न होते हुए भी किसी लक्ष्य-विशेष की पूर्ति में साधन बनाती है। उदाहरण के लिए चाकू का मूल्य साधनपरक मूल्य है। किसी वस्तु को चाकू से काटने में हमें कोई प्रसन्नता नहीं मिलती, किन्तु

वह किसी अन्य लक्ष्य में सहायक होता है अतः उसका मूल्य साधनपरक है। किन्तु जो वस्तु स्वयं प्रसन्सता प्रदान करती है, उसे आंतरिक मूल्य का उदाहरण बताया जा सकता है; जैसे कि एक स्वादिष्ट आम। परम्परागत मूल्य से सम्बन्धित वस्तुएँ भी उपयोगिता के अनन्तर प्रसन्नता प्रदान करती हैं। उदाहरण के लिए चाय या काफी को ले सकते हैं। जो व्यक्ति चाय या काफी के आदी हैं उन्हें इनके पीने से एक विशेष तृप्ति का अनुभव होता है जबकि अन्य लोगों को कदाचित् नहीं होता—या बहुत कम होता है। इस प्रकार वस्तु एवं उससे प्राप्त प्रसन्नता के आधार पर मूल्य के उपर्युक्त तीन प्रकार निश्चित किये गये हैं जिनमें सौन्दर्य का सम्बन्ध तीसरे प्रकार के—या परम्परागत मूल्य से है। किन्तु परम्परागत मूल्यों में से भी सभी सौन्दर्य के पर्याय नहीं हैं। जहाँ उपभोक्ता निःस्वार्थभाव से ही परम्परागत मूल्यों का आस्वादन कर पाता है, उन्हे ही सौन्दर्य की श्रेणी में रखा जा सकता है।

कुछ अन्य विचारकों ने उपर्युक्त वर्गीकरण के स्थान पर मूल्यों के केवल दो भेद ही स्वीकार किये है—(१) नैतिक मूल्य एवं (२) सौन्दर्यात्मक मूल्य। इस सौन्दर्यात्मक मूल्य के भी तीन उपभेद किये हैं—(१) वस्तुपरक या ऐन्द्रिक (२) रूपात्मक और (३) साहचर्य जन्य। वस्तुओं के जिस गुण से हमारी इन्द्रियों को आस्वादन प्राप्त होता है—वस्तुपरक या ऐन्द्रिक मूल्य माना गया है। कलाओं में रंग, ध्वनि, चमक-दमक आदि से सम्बन्धित गुणों को इसी वर्ग में रखा गया है। रूपात्मक वर्ग में वस्तु की आकृति एवं शैली सम्बन्धी विशेषताएँ आती हैं। किन्तु जब हम किसी वस्तु को उसके अपने गुणों के स्थान पर किसी अन्य सम्बन्ध के कारण स्वीकार करते हैं तो वहाँ साहचर्य-जन्य मूल्य माना जावेगा। उदाहरण के लिए किसी प्राचीन ऐतिहासिक खंडहर का महत्त्व उसकी अपनी भव्यता के कारण न होकर उससे सम्बन्धित घटनाओं या व्यक्तियों के कारण होता है तो वहाँ उसका मूल्य साहचर्य-जन्य होता है। इस प्रकार कला का सौन्दर्य कही वस्तु-परक मूल्य पर, कही रूपात्मक मूल्य पर एवं कहीं साहचर्य जन्य मूल्य पर आधारित होता है और कही ये सब सम्मिलित रूप में होते है। किन्तु इनमे भी रूपात्मक मूल्यों को ही कलागत सौन्दर्य के लिए सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न वर्ग के विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से सौन्दर्य की व्याख्या प्रस्तुत की है। हमारे विचार से इन सभी मे आंशिक सत्य विद्यमान है, उसे यदि ढूँढ कर परस्पर समन्वित कर लिया जाय तो एक व्यापक सत्य की—अधिक पूर्ण सत्य की—उपलब्धि हो सकती है। वैज्ञानिक पद्धति से इन विभिन्न मतमतान्तरों का विश्लेषण करते हुए सौन्दर्य सम्बन्धी धारणाओं को भी वैज्ञानिक रूप दिया जा सकता है तथा उसी स्थिति मे 'सौन्दर्य-शास्त्र' 'सौन्दर्य-विज्ञान' की संज्ञा प्राप्त कर सकता है।

परिशिष्ट ङ—

सहायक पुस्तक-सूची

(विषय-क्रमानुसार)

(क) भारतीय साहित्य-शास्त्र

१. अभिनव-भारती : सं० डा० नगेन्द्र, १६६० ।

२. आचार्य क्षेमेन्द्र : डा० मनोहरलाल गौड़, प्रथम संस्करण ।

३. कला, साहित्य और समीक्षा : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, १६६३ ।

४. काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र, प्र० सं० ।

५. काव्य-प्रकाश : मम्मट, अनु० हरिमंगल मिश्र, द्वि० संस्करण ।

६. काव्य-निर्णय : भिखारीदास, सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, १६५६ ।

७. काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति : वामन, सं० डा० नगेन्द्र, १६५४ ।

८. काव्यादर्श : दडी, रणवीरसिंह, प्र० सं० ।

९. कुवलयानन्द : डा० भोलाशंकर व्यास, १६१६ ।

१०. चन्द्रालोक : जयदेव, सं० नन्दकिशोर शर्मा, १६५० ।

११. ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : डा० भोलाशंकर व्यास, प्र० सं० ।

१२. ध्वन्यालोक : आनन्दवर्द्धन : सं० डा० नगेन्द्र, १६५५ ।

१३. नाट्य-शास्त्र : भरतमुनि सं० बलदेव उपाध्याय प्र० सं० ।

१४. भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र : प्र० सं० ।

१५. भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका : डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।

१६. भारतीय साहित्य-शास्त्र : बलदेव उपाध्याय, प्र० सं० ।

१७. भारतीय साहित्य-दर्शन : श्री राममूर्त्ति त्रिपाठी, प्र० सं० ।

१८. रस-गंगाधर : पं० जगन्नाथ, अनु० मदनमोहन झा, १६५५ ।

१९. रस-मीमांसा : रामचन्द्र शुक्ल : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।

२०. रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित प्र० सं० ।

२१. रसिक प्रिया : केशव, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ।

२२. रीतिकाल के प्रमुख आचार्य : डा० सत्यदेव चौधरी, प्र० सं० ।

२३. रीतिकाव्य की भूमिका : डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।

२४. वक्रोक्ति जीवितम् कुन्तक, स० डा० नगेन्द्र, १६५५ ।
२५. साहित्य-दर्पण : विश्वनाथ, सं० शालिग्राम शास्त्री, ११६३ ।
२६. समीक्षा-दर्शन : डा० रामलाल सिंह, प्र० सं० ।
२७. साहित्यालोचन : डा० श्यामसुन्दर दास, षष्ठ संस्करण ।
२८. सिद्धान्त और अध्ययन : डा० गुलाबराय, प्र० सं० ।
२६. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ प्रसाद मिश्र, द्वि० सं० ।

(ख) पाश्चात्य काव्य-शास्त्र

1. A Grammar of Metaphor : C. B. Rose, 1958
2. A hand-book of Literary Criticism : W. H. Sheran. I
3. An Introduction to the study of Literature : W. H. Hudson, '57
4. A history of Criticism & Literary taste in Europe : G. Sainsbury, Three volumes ; 6-7th edition.
5. Biographia Literaria : S. T. Coleridge, edited by J. Shawcross, 1939
6. Creative Imagination : J. E. Downey, 1929
7. Elizabathen & Metaphysical Imagery : Rose mond Tuve, 1957
8. Elements of Poetry : J. R. Kreuzer, 1955
9. English Prose Style : Herbert Read, 1956
10. Illusion and Reality : Christopher Caudwell, 1947
11. Language & Reality : W. M. Urban, 1957
12. Language & Reality : M. Hope Parker, 1949
13. Literature & Science : Oxford, 1954
14. Literary Criticism : A short history : W. K. Wimsatt & C. Brooks, 1957
15. Meaning & Truth in the Arts : John Hospers; 1946
16. Poetic Process : George Whalley, 1953
17. Practical Criticism : I. A. Richards, I edition
18. Romantic Image : Frank Kermode, 1957
19. Science & Literary Criticism : Herbert Dingle, 1949
20. Style : F. L. Lucas, 1955
21. The Anatomy of Poetry : M. Boulton, 1953
23. The Appreciation of Poetry : E. G. Moll, 1933
23. The Art of Drama : Ronald Peacock, 1957
24. The Meaning of Meaning : C. K. Ogden, I. A. Richards, 1959

25. The Nature of Literature : Thomas Clark Pollock, 1942
26. The Poetic Pattern : Robin Skelton, 1956
27. The Poetic Image : C. D. Lewis, 1958
28. The Problem of Style : J. M. Murry, 1959
29. Theory fo Literature : Renewellek, Austin warren, I edition.
३०. अरस्तू का काव्य-शास्त्र : डा० नगेन्द्र ।
३१. आलोचना के सिद्धान्त : शिवदान सिह चौहान, प्र० स० ।
३२. काव्य मे उदात्त-तत्त्व : लोंजाइनस, डा० नगेन्द्र ।
३३. काव्य-कला : होरेस, डा० नगेन्द्र, प्र० सं० ।
३४. पाश्चात्य-समीक्षा : डा० केसरी नारायण शुक्ल, प्र० सं० ।
३५. पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा : डा० नगेन्द्र एवं सावित्री सिन्हा, प्र० सं० ।

(ग) सौन्दर्य-शास्त्र

1. Aesthetics : Benedetto Croce, 1956
2. Aesthetic & Criticism : Harold Osborne, 1955
3. A history of Esthetics : K. E. Gilbert & Helment Kuhn, 1954
4. A history of Aesthetic : Bosanquet, II edition.
5. An Introduction to Aesthetic . E. F. Carrit, 1955
6. An Introduction to Aesthetics : Hunter Mead, 1952
7. Art as Experience : John Dewey, 1934
8. Art and Scientific Thought : Mortin Johnson, I, edition
9. Critique of Judgement : Immanuel Kant, Translated, J. H. Bernard, 1951
10. Encyclopedia of Arts : D. D. Runes, 1946
11. Further studies in a dying culture : C. Caudevell, 1949
12. Studies in Sanskrit Aesthetics : A. C. Shastri, 1952
13. The Arts and the Art of Criticism : T. M. Greene, 1947
14. The Analysis of Beauty : William Hogarth, edited Joseph Burke, 1955
15. The Meaning of Art : Herbert Read, 1951
16. The principles of Art : R. G. Collingwood, 1945
17. The Quest for Beauty : J. L. Jarrett, 1957
18. The Sense of Beauty : George Santayana, 1936
19. The Theory of Beauty : E. F. Carritt, 1949
20. Western Aesthetics : K. C. Pande, 1956

21. What is Art : L. Tolstoy, 1905
२२. सौन्दर्य-शास्त्र : डा० हरद्वारी लाल शर्मा, १९५३ ।

(घ) मनोविज्ञान

1. An Introduction to Social Psychology : W. McDougall, 1950
2. An Introduction to Personality Study : R. B. Cattell, 1950
3. An Outline of Psychology : W. McDougall, 1949
4. Development of Personality : Uday Shankar, 1955
5. Dimensions of Character : E. M. Ligon, 1957
6. Emotions in Man & Animal : P. T. Young, 1947
7. Genealogy of Love : Curt Thesing, Translated, Eden and Cedar Paul, 1933
8. General Psychology : H. E. Garrett, 1955
9. Historical Introduction to Modern Psychology : Gardner Murphy : 1948
10. Indian Psychology : Jadunath Sinha, 1934
11. Modern Education-Psychology : B. N. Jha, 1946
12. Nature of Thought : Brand Blanshard, 1939
13. Nerve Impulse : H. H. Merriment, 1952
14. Psychology : R. S. Woodworth, 1937
15. Psychology : H. W. Karan, I edition
16. Social psychology : Solom E. Asch, 1955
17. The analysis of Mind : B. Russel, 1931
18. The Energies of Man : W. McDougall, 1950
19. The Laws of Feeling : F. Paulhan, Translated, C. K. Ogden, 1930.
20. The New Psychology : A. G. Tansley, 1929
21. The Neuro physiological basis of mind : J. C. Eccles, 1952
22. The Psycholygy of Jung : J. Jacobi, Translated. K. W. Bash, 1946
23. The Principles of psychology : William James, 1950
24. The Psychology & Imagination : J. P. Sartre, 1948 (Translated)
25. The Structure and Dynamics of the Psyche : C. G. Jung, Trans. R. E. Hull, 1960
26. The Science of Emotions : Dr. Bhagwan Dass, 1953
२७. मनोविज्ञान : जदुनाथ सिन्हा, १९५८ ।

२८. सरल मनोविज्ञान, लालजी शुक्ल, १९५९ ।

२९. मनोविश्लेषण और मानसिक प्रक्रियाएँ : डा० पद्मा अग्रवाल, द्वितीय संस्करण ।

(ङ) भौतिक विज्ञान एव अन्य विज्ञान

1. Cosmology : Volume I, II, D. Nys, English Trans. I edition.
2. Cell Physiology : Arthur C Giese, 1959
3. Evolutions and Creation : Sir Oliver Lodge, 1926
4. Evolution after Darwin : Sol Tax, 1960
5. Foundations of Embryology : Bradley M. Pattern, 1958
6. Inorganic Chemistry : W. Norton Jones : I edition.
7. Introduction to Neutron Physics : L. F. Curtess, 1959
8. Man and his physical world : D. E. Grey & J. W, Coutts, 1958
9. Orgin through evolution : Nathen Fasten, 1930
10. On Nuclear Energy : Donald J. Hughs, 1957
11. Principles of Embryology : C. H. Waddington, 1957
12. The A. B C. of Relativity : Bertrand Russel, 1958
13. The Mighty Atom : John Lewellen, 1955
14. Understanding Chemistry : Lawrence P. Lessing, 1959

१५. अकार्बनिक रसायन-शास्त्री, जी० डी० तुली १९६५ ।

१६. आपेक्षिकता का अभिप्राय : डा० एलबर्ट आइन्स्टाइन, अनु० निहालकरण सेठी, १९६० ।

१७. भौतिक विज्ञान में क्रान्ति : लू दे ब्रोगली, अनु० निहालकरण सेठी, १९५८ ।

१८. माध्यमिक भौतिक विज्ञान, भाग—१, नगेन्द्रनाथ वसु, १९५५ ।

१९. विज्ञान हस्तामलकवत् : रामदास गौड, १९३६ ।

२०. सरल शरीर-विज्ञान : जानकीशरण वर्मा, १९४८ ।

२१. शक्ति : वर्तमान और भविष्य : गेरवुड टेलर, अनु० सत्यप्रकाश गोयल, १९५९ ।

२२. हिन्दी विश्व-भारती ।

(च) दर्शन एवं तर्क-शास्त्र

१. ईशादि नौ उपनिषद : गी० प्रे० २०१६ ।

२. तत्त्व-ज्ञान : डा० दीवानचन्द, १९५६ ।

३. तर्क शास्त्र : डा० गुलाबराय, १९९८ वि० ।

४. नाथ-सम्प्रदाय : आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्र० सं० ।

५. पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास : डा० गुलाबराय, १९८३ वि० ।

६. भारतीय दर्शन : बलदेव उपाध्याय, षष्ठ स० ।
७. भारतीय दर्शन-परिचय : हरिमोहन झा, प्र० सं० ।
8. A history of Modern Philosophy : W. K. Wright, 1941
9. Ideas of Great Philosophers : S. E. Frost, 1942
10. Semantics : H. R. Walpole, 1941
11. The Idea of Nature : R. G. Collingwood, 1945
12. The Greek Philosophers : W. K. C. Guthrie, 1950
13. The Pre-socratic Philosophy : G. S. Kirk, 1957
14. The Logic of Scientific Discovery : K. R. Popper, 1959

(छ) विविध

१. अतीत के चल-चित्र : महादेवी वर्मा, प्र० सं० ।
२. अशोक के फूल · आ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वि० स०
३. आधुनिक काव्य : महादेवी वर्मा, प्र० स० ।
४. कर्मभूमि : प्रेमचन्द ।
५. चिन्तामणि : आ० रामचन्द्र शुक्ल, तृ० स० ।
६. छायावाद युग : डा० शम्भूनाथ सिंह, प्र० सं० ।
७. प्रामाणिक शब्द-कोष, रामचन्द्र वर्मा ।
८. बिहारी-रत्नाकर . रत्नाकर ।
९. संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ : द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी ।
१०. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल, तृ० सं० ।
11. Dictionary of Literary terms : Shipley
12. Encyclopaedia of Arts.
13. Encyclopaedia of Brittanica
14. Encyclopaedia of Ethics and Religion.
15. Oxford English Dictionary.
16. Oxford Junior Encyclopaedia,
17. The New Dictionary of thought : T. Edwards.